॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥
५
-पं श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञोपनिषद्

पंचम खंड

☆

संपादक

ब्रह्मवर्चस

☆

प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा—२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

प्राक्कथन

परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने 'प्रज्ञापुराण' के रूप में जन-जन को लोक-शिक्षण का एक नया आयाम दिया है। इसमें उनने चिरपुरातन उपनिषद् शैली में आज के युग की समस्याओं का समाधान दिया। यह क्रांतिदर्शी चिंतन उनकी लेखनी से जब निस्सृत हुआ तो इसने पूरे क्षेत्र को उद्वेलित करके रख दिया। वस्तुतः यह पुरुषार्थ हजारों वर्षों बाद सप्तर्षियों की मेधा के समुच्चय को लेकर जन्मे प्रज्ञावतार के प्रतिरूप आचार्यश्री द्वारा जिस तरह किया गया, उसने इस राष्ट्र व विश्व की मनीषा को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया।

प्रज्ञा पुराण की रचना परमपूज्य गुरुदेव ने क्यों की? इस तथ्य को समझने के लिए प्रज्ञा पुराण के प्रथम खंड की भूमिका में उनके द्वारा लिखे गए अंश ध्यान देने योग्य हैं—'अपना युग अभूतपूर्व एवं असाधारण रूप से उलझी हुई समस्याओं का युग है। इनका निदान और समाधान भौतिक-क्षेत्र में नहीं, लोक-मानस में बढ़ती जा रही आदर्शों के प्रति अनास्था की परिणति है। काँटा जहाँ चुभा है, वहीं कुरेदना पड़ेगा। भ्रष्ट-चिंतन और दुष्ट आचरण के लिए प्रेरित करने वाली अनास्था को निरस्त करने के लिए ऋतंभरा महाप्रज्ञा के दर्शन एवं प्रयोग ब्रह्मास्त्र ही कारगर हो सकता है।

प्रस्तुत प्रज्ञा पुराण में भूतकाल के उदाहरणों से भविष्य के सृजन की संभावना के सुसंपन्न हो सकने की बात गले उतारने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि परिवर्तन प्रकरण को संपन्न करने के लिए वर्तमान में किस रीति-नीति को अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी और किस प्रकार जाग्रतात्माओं को अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना होगा।

उन्होंने इसे उपनिषद् शैली में ऋषियों के संवाद रूप में प्रकट किया। जनसामान्य के लिए पुराणों वाली कथा-शैली अधिक रुचिकर एवं ग्राह्य होती है, इसलिए उन्होंने उपनिषद् सूत्रों के साथ प्रेरक कथानक एवं संस्मरण जोड़कर उसे पुराण रूप दिया। इस रूप में चार खंड प्रकाशित हुए, यह इतने लोकप्रिय हुए कि सन् १९७९ से अब तक बीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वाध्यायशीलों के लिए उन्होंने इसे प्रज्ञोपनिषद् के रूप में प्रकाशित करने का भी निर्देश दिया था। आचार्यश्री के वाङ्मय की इकाई के रूप में इसके छह खंडों को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया गया। उसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता को देखते हुए स्वाध्याय-प्रेमियों की सुविधा की दृष्टि से प्रज्ञोपनिषद् के छहों खंडों को अलग-अलग केवल श्लोक एवं टीका के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसका नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए पूज्य आचार्यश्री ने प्रारंभिक निर्देशों में लिखा—

"दैनिक स्वाध्याय में इसका प्रयोग करना हो तो गीता पाठ, रामायण पाठ, गुरुग्रंथ साहब स्तर पर ही इसे पवित्र स्थान एवं श्रद्धाभरे वातावरण में धूप, दीप, अक्षत, पुष्प जैसे पूजा-प्रतीकों के साथ इसका वाचन करना-कराना चाहिए। जो पढ़ा जाए, समझ-समझकर धीरे-धीरे ही। प्रतिपादनों को अपने जीवनक्रम में सम्मिलित कर सकना, किस प्रकार, किस सीमा तक संभव हो सकता है, यह विचार करते हुए रुककर पढ़ा जाए।"

छहों खंडों की विषयवस्तु इस प्रकार है—प्रथम खंड में आज के युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था-संकट का विवरण है। द्वितीय खंड धर्म के आधारभूत शाश्वत गुणों पर, तृतीय खंड परिवार-संस्था, गृहस्थ जीवन, नारीशक्ति के विभिन्न पक्षों पर, चतुर्थ खंड देव संस्कृति के आज लुप्त हो रहे उन पक्षों पर केंद्रित है, जिन पर भारतीय धर्म टिका है। पाँचवाँ खंड सर्वधर्म सद्भाव को समर्पित है, जो विश्व धर्म का भविष्य में आधार बनेगा। अंतिम छठा खंड वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की धुरी पर लिखा गया है। आर्य संस्कृति के यज्ञ विज्ञान, परोक्ष जगत आदि पक्ष वैज्ञानिक धर्म की पृष्ठभूमि में समझाए गए है।

उक्त छह प्रकरणों को पृथक-पृथक पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य यह है कि विज्ञजन इसका पाठ-अध्ययन नियमित रूप से करते रह सकें। इससे युगऋषि द्वारा अवतारित युगांतरकारी सूत्र जन-जन के विचारों एवं आचरण में प्रवेश करके युग परिवर्तन-उज्ज्वल भविष्य का ठोस आधार तैयार कर सकेंगे।

युगऋषि-प्रज्ञापुरुष की जन्म शताब्दी (२०११-२०१२) की तैयारी की वेला में उनका ही रचा यह युगदर्शन उन्हीं के चरणों में समर्पित है।

—ब्रह्मवर्चस

भूमिका

महर्षि याज्ञवल्क्य की अध्यक्षता में संपन्न एक विशिष्ट सत्र की चर्चा वैशंपायन-मार्कंडेय संवाद में आती है। यह सत्र सर्वधर्म-सद्भाव एवं व्यावहारिक अध्यात्म की धुरी पर केंद्रित है।

प्रथम अध्याय 'कर्मव्यवस्था' पर आधारित है। ऋषि बताते हैं कि 'कर्म' एवं 'ईश्वर' यही दो सत्य इस धरती पर हैं। कर्म का फल सुनिश्चित है। कर्मव्यवस्था में जहाँ सत्कर्मों का प्रतिफल है, वहाँ दुष्कर्मों का भी कठोर विधान है। चित्रगुप्तरूपी अंतश्चेतना इस स्वचालित व्यवस्था को चलाती रहती है। समापन रूप में ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है।

दूसरा अध्याय 'आत्मपरिष्कार लोक-साधना' की चर्चा करता है। मनुष्य गिरता कैसे है एवं आत्मपरिष्कार कर कैसे ऊँचा उठ सकता है? इसकी व्याख्या ऋषि करते हैं। आत्मोत्कर्ष को पकाने के लिए सभी को सेवा-साधना भी करनी चाहिए, तभी वह टिक पाता है।

तीसरा अध्याय 'व्यावहारिक तप-योग' प्रकरण पर है। दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन, सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन ही तप है, यह ऋषि बताते हैं। इन्हीं से मनुष्य अपना उत्थान कर सकता है।

चौथा अध्याय 'आत्मबोध प्रकरण' पर है। मनुष्य श्रेय- मार्ग पर कैसे बढ़े, उसे सत्य का दर्शन कैसे हो, चेतना का स्तर कैसे ऊर्ध्वगामी हो तथा बंधनों से मुक्ति कैसे मिले? इस पर ऋषि विस्तार से प्रकाश डालते हैं। वे योगत्रयी का स्वरूप भी समझाते हैं।

पाँचवाँ अध्याय 'धर्मधारणा' प्रकरण की विस्तृत व्याख्या करता है। भिन्न-भिन्न मान्यताओं वाले समुदायों के·····सनातन रूप कैसे प्रकट हों धर्म वस्तुतः है क्या एवं सार्वभौम धर्म को दैवी गुणों के आधार पर कैसे स्थापित किया जा सकता है, यह विवेचन इसमें है।

छठा अध्याय पुनः इसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए 'सर्वधर्म सद्भाव' की चर्चा करता है। कौंडिन्य की जिज्ञासा के उत्तर में ऋषि याज्ञवल्क्य बताते हैं कि किस तरह पूर्वाग्रह मिटेंगे, कट्टरता हटेगी और इसका सार्वभौम रूप प्रतिष्ठित होगा। सारी विश्व-वसुधा एक परिवार बनेगी।

सातवाँ अध्याय धर्मधारणा की धुरी 'उपासना-साधना, आराधना' पर आधारित है। त्रिधा-ब्रह्मविद्या को धारण करने के लिए तीन पुरुषार्थ उन्हीं के रूप में करने होते हैं, यह ऋषि बताते हैं। उपासना में भक्त-भगवान की समीपता, जीवन-साधना में अनगढ़ता को मिटाना तथा आराधना में लोक- मंगल के सेवा धर्म को अपनाना होता है। वस्तुतः ये सातों अध्याय आज के युग की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता पूरी करते हैं, मानव का सही विकास एवं विश्व मानव के रूप में उसकी स्थापना, यह खंड सभी के लिए विवेचन योग्य है।

—**ब्रह्मवर्चस**

प्रज्ञोपनिषद्

पंचम मंडल

विषय-सूची **पृष्ठ सं०**

॥ गुरु-ईश-वंदना ॥

गुरु-ईश-वंदना के इन श्लोकों से भावपूर्ण वंदना करके 'प्रज्ञोपनिषद्' का पारायण प्रारंभ किया जा सकता है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप! ॥
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
नमस्ते नमस्ते विभो! विश्वमूर्ते! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते!।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य ! नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य!॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

ॐ वन्दे भगवतीं देवी, श्रीरामञ्च जगद्गुरुम्।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा, प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्री रूपिणे सदा।
यस्य वागमृतं हन्ति, विषं संसार संज्ञकम्॥

ॐ प्रखर प्रज्ञाय विद्महे, महाकालाय धीमहि, तन्नः श्रीरामः प्रचोदयात्॥ ॐ सजल श्रद्धायै विद्महे, महाशक्त्यै धीमहि, तन्नो भगवती प्रचोदयात्॥

॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥

॥ पंचम मंडल ॥

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

कर्म-व्यवस्था प्रकरण

सुमेरौ पर्वते प्राय ऋषीणां दिव्य चक्षुषाम्।
मुनीनां समुदायः स भवत्येकत्रितः सदा ॥ १ ॥
लोक-कल्याण-सद्भावभरितात्मन उत्तमाः।
दिव्यवातावृतौ तत्र समस्यानां समाहितिम् ॥ २ ॥
कालिकीनामन्विषन्ति विनिर्मान्ति भविष्यति।
विश्वव्यवस्थितेश्चास्याः सुव्यवस्थादियोजनाः ॥ ३ ॥
सतां समागमस्यास्य क्रमे तत्र स एकदा।
वैशंपायन आसक्तस्तत्त्वचर्चा विधाविदम् ॥ ४ ॥
रहस्यं श्रुतवान् दिव्यं कारणं यदभूत्स्वयम्।
युगांतरस्य चैतन्यरूपे सक्रियता विधेः ॥ ५ ॥
अनन्तरं स संतोषमृषिः प्रकटयन् परम्।
विनयपूर्वकमाहैनं मार्कंडेयं महामुनिम् ॥ ६ ॥

टीका—सुमेरु पर्वत पर प्रायः दिव्य ज्ञान संपन्न ऋषि-मुनियों का समुदाय सत्संग प्रयोजन हेतु एकत्रित होता रहता है। लोक-कल्याण भावना से अभिपूरित श्रेष्ठ ऋषि आत्माएँ दिव्य वातावरण में सामयिक समस्याओं के समाधान खोजतीं और भविष्य में विश्व व्यवस्था के सुसंचालन की योजनाएँ बनातीं। संत समागम के इस क्रम

में एक बार तत्त्वचर्चा में संलग्न वैशंपायन जी ने देवर्षि नारद का वह रहस्य सुना जो युगांतरीय चेतना के रूप में सक्रिय होने के कारण था। अनंतर उन्होंने संतोष व्यक्त करते हुए मार्कंडेय जी से विनयपूर्वक पूछा— ॥ १-६ ॥

वैशंपायन उवाच—

ऋषिवर्य ! अनास्थाजाः संति यास्तु विभीषिकाः ।
योजनानां तु दैवीनां तासां मध्ये क्रियान्वितिः ॥ ७ ॥
तत्प्रयासे तु सर्वेषां प्राप्ता वैचारिका भ्रमाः ।
व्यवहारे च काठिन्यमिति निश्चीयते मया ॥ ८ ॥
किं कृतं तत्समाधातुं भवता करुणात्मना ।
अनुग्राह्यो जनोऽप्येष तस्य संकीर्तनेन तु ॥ ९ ॥

टीका—वैशंपायन ऋषि बोले—हे ऋषिवर ! अनास्थाजन्य विभीषिकाओं के बीच दैवी योजना को क्रियान्वित करने के प्रयास में जन-जन के सामने अनेक प्रकार के वैचारिक भ्रम और व्यावहारिक कठिनाइयों का उभार आया होगा, ऐसा मेरा विचार है। उनके समाधान हेतु क्या किया गया? हे दयालु! कृपया उसका वर्णन कर मुझे अनुग्रहीत करें ॥ ७-९ ॥

मार्कंडेय उवाच—

भवतो लोक कल्याणे रुचिर्या गहना मुने।
तयोपयोगि सूत्रं तत्प्राप्तं शृणु समाहितिम् ॥ १० ॥
स्थितयस्त्वागता एवमन्यमन्वंतरेष्वपि ।
ऋषयस्तत्समाधातुं ज्ञानसत्रमयूयुजन् ॥ ११ ॥
सूत्रं महत्त्वपूर्णं तच्छृणु यस्मिंस्तु चिंतिताः ।
अध्यात्म-ज्ञान-संबद्धाः समस्या बहवो भृशम् ॥ १२ ॥

टीका—महर्षि मार्कंडेय ने कहा है—महाभाग! आपकी लोक-कल्याण में जो गहरी अभिरुचि है, उसने बड़ा उपयोगी सूत्र खोजा है। इसका समाधान सुनें। ऐसी परिस्थितियाँ अन्य मन्वंतरों में भी आ चुकी हैं। उनके समाधान के लिए ऋषियों द्वारा ज्ञानसत्र आयोजित किए जाते रहे हैं। इस संदर्भ में एक अति महत्त्वपूर्ण सत्र जिसमें अध्यात्म विज्ञान के अनेकानेक पहलुओं पर चिंतन हुआ था आपको सुनाता हूँ॥ १०-१२॥

महर्षिर्याज्ञवल्क्यस्य नेतृत्वे त्वेकदाऽभवत्।
ज्ञानसत्रं महर्षीणां त्रिपुरारण्यके महत्॥ १३॥
सहस्राणि समायातान्यत्र सत्रे मनीषिणाम्।
तत्त्वदर्शिनृणां ब्रह्मज्ञानां प्रज्ञानृणां तथा॥ १४॥
भद्रावत्यास्तु नद्यास्ते तरूणां वनशोभिनाम्।
छायायां सघनायां तु निर्मिते रम्यकुञ्जके॥ १५॥
महर्षिणस्तु ते सर्वेऽगृह्णंस्तत्रासनानि तु।
स्वस्तिवाचनमाचख्युः समूहे मंगलानि च॥ १६॥
भगवत्स्मरणांते च प्रसंगे निश्चिते तथा।
क्रमश्चचाल तत्रांते प्रश्नोत्तरविधौ पुनः॥ १७॥
भरद्वाज ऋषिः पूर्वं जिज्ञासां प्रस्तुवन् स्वकाम्।
सूत्र सञ्चालकं याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ सादरम्॥ १८॥

टीका—एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य के नेतृत्व में ऋषि-मनीषियों का एक बड़ा ज्ञानसत्र त्रिपुरारण्यक में संपन्न हुआ। उसमें हजारों प्रज्ञापुरुष, ब्रह्मचारी, तत्त्वदर्शी, ब्रह्मज्ञानी और महामनीषी एकत्रित हुए। भद्रावती नदी के तट पर वृक्षों की सघन छाया में बने सहस्र विशालकाय निकुंज में सभी मनीषियों ने अपने-अपने आसन ग्रहण

किए। सामूहिक रूप से मंगलाचरण स्वस्तिवाचन का पाठ किया और भागवत स्मरण के उपरांत निर्धारित प्रसंग पर प्रश्नोत्तर चल पड़ा। ऋषि भरद्वाज ने प्रथम जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए सत्र के सूत्र-संचालक याज्ञवल्क्य जी से नम्रतापूर्वक पूछा— ॥ १३-१८ ॥

भरद्वाज उवाच—

भगवन् समदर्शी स परमात्मा तु प्राणिनाम्।
क्षमताः सुविधाश्चावश्यकतारूपतो ददौ ॥ १९ ॥
स्वभावात्तैरीश्वरस्य विधेश्चापि विरुद्धगाः।
त्रुटयस्तु विधीयंते काले प्रतिक्रिया अपि ॥ २० ॥
दृश्यते चेदमेवात्र श्रेष्ठोऽपेक्षतया नरः।
त्रुटीश्चाप्यधिकाः कुर्वन् महापरिणतिःभवेत् ॥ २१ ॥
अल्पज्ञैस्तै कनिष्ठैश्च क्रियंते त्रुटयस्तु याः।
ताः सम्भाव्या हि मन्यन्ते प्रमादाज्ञानसंभवाः ॥ २२ ॥
तस्या समर्थसत्तायाः तस्याः सहयोगिन एष तु।
नरस्य व्यवहारो न मान्यो ब्रूहि रहोऽत्र किम् ॥ २३ ॥

टीका—ऋषि भरद्वाज बोले—भगवन्! समदर्शी परमात्मा ने प्राणिमात्र को उनकी आवश्यकता के अनुरूप क्षमताएँ व सुविधाएँ प्रदान की हैं। स्वभावतः उनसे ईश्वरीय अनुशासन के प्रतिकूल यदा-कदा भूलें भी होती रहती हैं। एवं उन कर्मों की प्रतिक्रियाएँ भी होती रहती हैं। देखा यह जाता है कि मनुष्य जैसा वरिष्ठ प्राणी अपेक्षाकृत भूलें भी अधिक करता है एवं उसके परिणाम बड़े व्यापक होते हैं। अल्पज्ञ कनिष्ठों से त्रुटियाँ हों तो यह समझ में भी आता है, चूँकि अज्ञान-प्रमाद उनसे संभव है, पर समर्थसत्ता के सहयोगी मनुष्य का यह व्यवहार समझ में नहीं आता। कृपया इस रहस्य का उद्घाटन करें ॥ १९-२३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

भवतोद्बोधिते प्रश्ने प्राणिभ्य ईश्वरार्पिताः।
सुविधाः क्षमता यास्ता लभंते गौरवं महत्॥ २४॥
जीवनं वंशचक्रं च धर्तुं योग्यास्तु प्राणिनाम्।
सर्वेषां क्षमताः संति सुविधाश्चापि ता मुने॥ २५॥
करुणायास्तु प्रत्यक्षं प्रमाणं करुणानिधेः।
वर्तते परमीशस्य शब्दस्यार्थस्तु शासनम् ॥ २६॥
अतः शासन-सत्तायाः कारणात्सहयोगिने।
मनुष्यायातिरिक्तास्ताः क्षमताः सुविधा ददौ॥ २७॥
मात्रमत्रेदृश्यपेक्षा सृष्टिं कर्तुं समुन्नताम्।
शोभनां च मया कुर्याज्ज्येष्ठपुत्रस्य भूमिकाम्॥ २८॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे तात् ! आपके द्वारा उभारे गए प्रश्न में प्राणियों को ईश्वर द्वारा आवश्यकता के अनुरूप सुविधाएँ एवं क्षमताएँ देने की बात बहुत महत्त्व रखती है। जीवन-निर्वाह और वंशचक्र को चलाते रहने जितनी क्षमता सुविधा तो सभी को प्राप्त है। वह उस करुणाकर की करुणा का प्रत्यक्ष प्रमाण है, परंतु 'ईश' शब्द शासन करने हेतु प्रयुक्त है। अतः शासन करने वाली सत्ता के नाते ईश्वर ने अपने सहयोगी मनुष्य को कुछ अतिरिक्त क्षमताएँ और सुविधाएँ दीं, मात्र इस अपेक्षा के साथ कि सृष्टि को सुंदर, समुन्नत बनाने में ज्येष्ठ पुत्र की भूमिका निभाते हुए वह हाथ बँटाएगा॥ २४-२८॥

वरिष्ठा राज्यसत्तायाः पदासीनास्तु ये नराः।
साधनान्यधिकाराश्च तेभ्यो दीयंत एव हि॥ २९॥
उपयोगं तु तेषां ते विधास्यन्ति स्वतो मुने।
शासनस्य व्यवस्थार्थं लोकसौविध्यहेतवे॥ ३०॥

निजरूपे तु तैर्मात्रं वेतनं प्राप्यते नरैः।
अतिरिक्तं यदास्ते तत्परार्थं न्यास-मात्रकम्॥ ३१॥
व्यामोहे च विलासे च तथोद्धतविधौ नरैः।
अपव्ययस्य मार्गेषु नोपयुक्तं तदाहतम्॥ ३२॥
तथ्यमेतत्सदाध्येयमुपलब्धसुशक्तिकैः।
मानवैर्यत एतद्धि कर्त्तव्यं चास्ति संमतम्॥ ३३॥

टीका—राज्यसत्ता के वरिष्ठ पदासीनों को विशेष साधन तथा अधिकार इसलिए दिए जाते हैं कि उनका उपयोग शासन व्यवस्था और लोक सुविधा के लिए करेंगे। निजी रूप से तो उन्हें निर्वाह वेतन भर मिलता है। मनुष्य को जो अतिरिक्त मिला है, वह परमार्थ प्रयोजनों के लिए दी गई धरोहर मात्र है। इसे विलास, व्यामोह, अपव्यय एवं उद्धत उपयोग में नहीं ही लगाना चाहिए। इस तथ्य को भली प्रकार ध्यान में रखना उपलब्ध शक्तियों से युक्त मानव का कर्त्तव्य है॥ २९-३३॥

नर एव मतः सिद्धपुरुषो मार्गदर्शकः।
मनीषी देवदूतश्च महर्षिः क्रमशो जनैः॥ ३४॥
पदान्येतानि लब्धुं च समयं प्राप्नुयुर्यथा।
सत्पात्राण्यत्रस्वीचक्रे परीक्षापद्धतिं प्रभुः॥ ३५॥
स्वतन्त्रं चिन्तनं प्रादात्कर्त्तृत्वं च तथैव सः।
आधारमिममाश्रित्य पात्रता सा परीक्ष्यते॥ ३६॥
प्रशस्तमुमपयोगं ये साधनानां प्रकुर्वते।
उत्तीर्णा तु परीक्षा तैः पदान्युच्चानि यांति ते॥ ३७॥
पार्षदास्ते प्रभोर्नूनं जायंते पुण्यकीर्तयः।
उन्नतेर्वञ्चिता दंड्या ये ते दुरुपयोगिनः॥ ३८॥

टीका—मनुष्य जन्म के उपरांत महामानव, सिद्धपुरुष, मनीषी, मार्गदर्शक, सुधारक, ऋषि, देवदूत जैसे अन्य अनेकों स्तर एवं पद हैं। उन्हें उपलब्ध करने का अवसर सत्पात्रों को मिले, इस उद्‌देश्य से ईश्वर ने परीक्षापद्धति अपनाई है। हर मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र कर्त्तव्य अपनाने का अवसर प्रदान किया है। इसी आधार पर पात्रता की जाँच पड़ताल होती है, जो साधनों के सदुपयोग की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, वे ऊँचे पद पाते ईश्वर के पार्षद बनते हैं। जो दुरुपयोग करते हैं, वे दंड पाते और भावी प्रगति से वंचित कर दिए जाते हैं॥ ३४-३८॥

महार्हेणानुदानेन प्रत्येकेन समस्तरम्।
दायित्वं बद्धमास्ते तन्महद् भूतिमतांस्त्विदम्॥ ३९॥
क्षंतव्या एव दोषास्तु सामान्यानां नृणां सदा।
महांतस्तु प्रमादस्य ताडनाः प्राप्नुवन्त्यलम्॥ ४०॥
विभूतीनां प्रशस्तेऽत उपयोगे नरैः सदा।
स्वर्गो मुक्तिश्च प्राप्येते श्रेयस्यौ भाग्यसंपदे॥ ४१॥
तथा दुरुपयोगे तु कठोरो दंड आश्रितः।
कर्मणस्तुः व्यवस्थायां अंतरेव महामुने॥ ४२॥

टीका—हे ऋषि श्रेष्ठ! हर बहुमूल्य अनुदान के साथ उसी स्तर का उत्तरदायित्व भी जुड़ा होता है। मनुष्य विभूतिवान है तो उसका उत्तरदायित्व भी महान है। छोटों की छोटी भूलें दरगुजर की जाती हैं, किंतु बड़ों को प्रमाद की बड़ी प्रताड़ना भुगतनी पड़ती है। विभूतियों का सदुपयोग होने पर मनुष्य को जहाँ स्वर्गमुक्ति जैसे श्रेय सौभाग्य मिलते हैं, वही दुरुपयोग होने पर कर्म व्यवस्था के अंतर्गत कठोर दंड विधान भी निर्धारित हैं॥ ३९-४२॥

मनुष्यस्य तु व्यक्तित्वं महत्संनिहितं तु तत्।
वैभवं बीजरूपेऽस्मिन् सुविधा शक्त्यपेक्षया॥ ४३॥
वैभवं वर्तते यत्तु व्यापके परमात्मनि।
आत्मारामाः प्रसुप्तं तु बोधयन्त्येनमन्ततः॥ ४४॥
अनायासं प्राप्नुवंति सामर्थ्यान्युच्चगानि च।
वैपरीत्ये चित्रगुप्तश्चरितं तु कुकर्मिणाम्॥ ४५॥
लिखन् दंडव्यवस्थां च तत्कालं प्रकरोति ताम्।
स्वचालिता मता कर्मफलजा तु व्यवस्थितिः॥ ४६॥
मनुष्यस्य तु सर्वांगपूर्ण संगठने मुने।
अंतश्चेतोंऽश आदत्ते चित्रगुप्तः स्वयं सदा॥ ४७॥
एतदर्थं पृथक् बाह्या व्यवस्था परमात्मना।
विधीयते न कापीदं निश्चितं विद्धि मे मतम्॥ ४८॥

टीका—मनुष्य का व्यक्तित्व महान है। प्रत्यक्ष सामर्थ्यों सुविधाओं की तुलना में उसके अंतराल के बीच रूप में वह समूचा वैभव सन्निहित है, जो सर्वव्यापी परमात्मा में पाया जाता है। इस प्रसुप्त को आत्मपरायण जगाते हैं और अनायास ही उच्चस्तरीय सामर्थ्यें हस्तगत करते जाते हैं। इसके विपरीत कुकर्मियों का चित्रगुप्त न केवल सब कुछ अंकित करते जाते हैं, वरन उसकी दंड व्यवस्था भी हाथोहाथ बनाता चलता है। हे तात! मनुष्य के सर्वांगपूर्ण गठन में यह कर्मफल व्यवस्था पूर्णरूपेण स्वसंचालित है, जिसे चित्रगुप्तरूपी अंतःचेतना का एक अंश बिना किसी की सहायता के स्वयमेव संपन्न कर लेता है। इसके लिए परमात्मा को अलग से कोई बाहरी व्यवस्था नहीं करनी पड़ती, यह मेरा निश्चित मत है॥ ४३-४८॥

कुसंस्कारैर्व्यक्तिभिश्च संबद्धाभिर्महामुने।
परिस्थितिवशादेते वातावरण-कारणात्॥ ४९॥
सामान्या ये नरास्ते तु प्रवाहमनुयान्त्यपि।
गर्तेषु प्रपतन्त्येते मेषा अंधा इव क्रमात्॥ ५०॥
विवेकी दूरदर्शी यो नीरं क्षीरं परामृशन्।
राजहंस इवादत्ते योग्यं परमहंसकः॥ ५१॥
स्वकीययया प्रतिभया नैवान्धाननुयान्ति ते।
आभाति ध्येयमेकं यत्प्रायो विस्मर्यते नरै॥ ५२॥

टीका—हे ऋषिवर! संचित कुसंस्कारों, सबद्ध व्यक्तियों वातावरण परिस्थितियों से घिरे होने के कारण हेय स्तर के मनुष्य-प्रवाह में बहते और अंधी भेड़ों की तरह एक के पीछे एक खड्ड में गिरते चले जाते हैं। विवेकवान दूरदर्शी व्यक्ति उचित-अनुचित का नीर-क्षीर-विवेक करते हैं और राजहंस परमहंसों की तरह उसी को ग्रहण करते हैं, जो योग्य है। अंधानुकरण करने से बच सकने योग्य निजी प्रतिभा होती है। हे तात! यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है, जिसे प्रायः मनुष्य भूल जाता है॥ ४९-५२॥

ईश्वरो मानवं चक्रे सहयोगिनमात्मनः।
स्वतंत्रः शासको नास्ति सृष्टेः स इति चिन्त्यताम्॥ ५३॥
अर्धाधिकारमादातुं प्रभवत्येष मानवः।
स्वतंत्रश्चेतुमस्त्येष मानवो विहितो ध्रुवम् ॥५४॥
परं कर्मफलं देवः स्वाधीनं निरधारयत्।
अद्य श्वो वा फलं नूनं भोक्तव्यं तस्य मानवैः॥ ५५॥

लब्धुं प्रतिफलं कश्चिद् विलंबो भवतीव सः।
बीजानां परिपाकाय कालः कश्चिदपेक्ष्यते॥ ५६॥
अज्ञा विलंबमालम्ब्य व्रजन्त्येते त्वधीरताम्।
कर्मणां विधिपाकेषु संश्रिता दूरदर्शिनः॥ ५७॥
जायमानाः यथाकालं क्रियाणां याः प्रतिक्रियाः।
तस्या विधि व्यवस्थाया न ते विचलिताः क्वचित्॥ ५८॥

टीका—ईश्वर ने मनुष्य को अपना सहयोगी बनाया है न कि इस सृष्टि का स्वतंत्र शासक। सहयोगी के नाते उसे आधे का अधिकार है। चयन की स्वतंत्रता ईश्वर ने मनुष्य को दी है तो कर्मफल निर्धारण का तंत्र अपने हाथ में रखा है। आज नहीं तो कल सभी को कर्मफल भुगतना पड़ता है। फसल पकने की तरह प्रतिफल पाने में विलंब तो लगता ही है। अनाड़ी इसी विलंब को देखकर अधीर हो उठते हैं, किंतु दूरदर्शी कर्म विधान की सुनिश्चितता पर पूर्ण विश्वास रखते हैं और क्रिया की प्रतिक्रिया समयानुकूल उत्पन्न होने की विधि-व्यवस्था से विचलित नहीं होते॥ ५३-५८॥

ऋषिः पप्रच्छ जिज्ञासुर्भरद्वाजो विवेचनाम्।
इमां श्रुत्वा सपद्येष लोककल्याण-संयुताम्॥ ५९॥

भरद्वाज उवाच—

भगवन्नीश्वरस्यास्यां सृष्टौ सर्वो व्यवस्थितः।
क्रमो यतश्च सुस्पष्टः कारणं किं वरो नरः॥ ६०॥
विचारक्षमतायुक्तः क्रमं बोद्धुं भ्रमं व्रजेत्।
विस्मृतिं व्यवहारे स आचरत्यपि सर्वदा॥ ६१॥
विडंबनाया हेतुः को दूरीकर्त्तुं च तं पुनः।
रहस्यं किं विचार्यैतद्दयालो दयया वद॥ ६२॥

टीका—जिज्ञासु ऋषि भरद्वाज ने लोक-कल्याणयुक्त इस विवेचना को सुनकर तत्काल प्रश्न उठाया। भरद्वाज बोले—भगवन! जब ईश्वर की इस सृष्टि में हर क्रम सुव्यवस्थित एवं सुस्पष्ट है, फिर क्या कारण है कि मनुष्य जैसा विचार क्षमता संपन्न प्राणी उस क्रम को समझने में भ्रमित होता और व्यवहार में भूल करता है। इस विडंबना का कारण और उसके निवारण का मर्म विचार कर कृपया स्पष्ट करें॥ ५९-६२॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

ऋषिवर्य ! जगत्सर्वं प्रकाशतमसोरिदम् ।
विप्रतिषिद्धयोरेव तत्त्वयोर्निर्मितं मतम्॥ ६३॥
उभयोः स्वं स्वमस्त्येव सामर्थ्यं तेन प्राणिनः।
अनुकर्षत इत्थं च दूरदर्शी नराः सदा॥ ६४॥
उचितानुचिते वीक्ष्योचितं केवलमर्जयेत्।
नियंतो हेतुनानेन मानवे क्षमता अदात्॥ ६५॥
स्वं भाग्यं च भविष्यच्च निश्चेतुं परिवर्तितुम्।
उत्थानं देवशक्तिः सा पतनं दानवी तथा॥ ६६॥
दानवस्य प्रलोभैर्यो मुच्यते देवसन्निधिम्।
याति स विंदते श्रेयः सौभाग्यं चापि मानवः॥ ६७॥

टीका—याज्ञवल्क्य जी बोले—हे ऋषिश्रेष्ठ! यह संसार प्रकाश और अंधकार जैसे दो परस्पर विरोधी तत्त्वों से मिलकर बना है। दोनों की अपनी-अपनी सामर्थ्य है। प्रत्येक अपनी ओर खींचता है। मनुष्य की दूरदर्शिता इसी में है कि वह उचित और अनुचित से भरे-पूरे इस बाजार में से मात्र उचित को ही खोजें-खरीदें। इसी उद्देश्य से नियंता ने मनुष्य को अपने भाग्य और भविष्य को निर्धारित परिवर्तित करने

की क्षमता प्रदान की है। उत्थान की शक्तियों को देव और पतन की शक्तियों को दानव कहते हैं। दानव के प्रलोभनों से जो बच सकता है, वही देव का सान्निध्य सहयोग पाता है और श्रेय-सौभाग्य का अधिकारी बनता है ॥ ६३-६७ ॥

मनुष्यान्तः स्थिता यास्ता आसुर्यः शक्तयो नरम्।
कुमार्गगामिनं कुर्वन्त्यादायैनं तथा स्थितौ ॥ ६८ ॥
कारयन्त्यो दुराचारं पतने च पराभवे।
अंते नरकयोः कष्टपूर्णयोः प्रक्षिपंति च ॥ ६९ ॥
अस्माच्च विपरीतं या दैवी प्रोक्ता तु प्रेरणा।
उत्कृष्टतां समादातुं सा तु योजयते नरम् ॥ ७० ॥
सद्विचारान् गृहीतुं च सन्मार्गे चलितुं तथा।
प्रेरयत्यथ ये गृह्णन्त्येतान्येते स साधना ॥ ७१ ॥
देवत्वमधिगच्छन्तस्तेषां स्वर्गं प्रयांति च।
जीवन्मुक्ताश्च जीवंति दिव्यं श्रेयोऽन्विताः सदा ॥ ७२ ॥
कतरो मानवैर्देवासुरयोरनुगम्यताम्।
स्वकीयं मानवस्येदं चयनं यत्र जीवति ॥ ७३ ॥
एतच्चयनमेवांत उत्थानं पतनं तथा ।
परिस्थितिवशात् कर्त्तुं प्रभवत्यञ्जसा ध्रुवम् ॥ ७४ ॥

टीका—मनुष्य की अंत:स्थिति आसुरी शक्तियाँ उसे कुमार्ग पर चलने के लिए ललचाती हैं और वैसे ही वातावरण तक ले पहुँचती हैं। कुकर्म कराते हुए अंततः पतन-पराभव के कष्टदायी नरक में धकेल देती है। इसके विपरीत देवों की प्रेरणा उत्कृष्टता अपनाने और सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। जो उसे अपनाते हैं, उन्हें वे

तदनुरूप साधन सहयोग की भी कमी नहीं रहने देते। देवत्व अपनाने वाले उन्हीं के स्वर्गलोक में जा पहुँचते हैं और जीवन्मुक्त की तरह दिव्य जीवन जीते हैं और श्रेय-सौभाग्य पाते हैं। देव और असुर दोनों में से किसका अनुसरण किया जाए, यह मनुष्य का अपना चुनाव है, जिसमें उसको जीना है। यह चुनाव ही अंततः उत्थान-पतन की परिस्थितियों का सरंजाम खड़ा कर देता है॥ ६८-७४॥

दोषाणां दुर्गुणानां च वारणं सत्प्रवृत्तिजाः।
धर्तुं च संपदा दैवी पौरुषं पात्रतोदयः॥ ७५॥
अध्यात्मसाधनारूपे चलिता बहवस्तु ये।
विधयः कर्मकांडाद्यास्तत्त्वं तत्रेदमस्फुटम्॥ ७६॥
सिद्धांताः प्रगतेरेते भौतिकस्य भवंति च।
साफल्यहेतवो येन आत्मोत्कर्षोऽधिगम्यते ॥ ७७॥
रहस्यमेतद् यैर्ज्ञातं सत्यं जानंति ते नराः ।
सत्यमार्गस्थिताः संति गजसाहस्रशक्तिकाः ॥ ७८॥
लुठंति सिद्धयस्तेषां चरणेषु भवंति ते।
वर्चस्ववैभवाधीशा अनुकार्या नृणां स्तुता॥ ७९॥
सहयोगिन ईशस्य भूमिकां कुर्वतां नराः।
स्वयं तरंति तेऽन्याँश्च तारयन्त्यपि निश्चितम्॥ ८०॥

टीका—दोष-दुर्गुणों का निवारण और सत्प्रवृत्तियों की दैवी संपदा को धारण करने की पात्रता का अभिवर्द्धन ही परम पुरुषार्थ है। अध्यात्म-साधना के रूप में प्रचलित अनेकानेक कर्मकांडों और विधि-विधानों के पीछे छिपा हुआ उद्‌देश्य एवं सारतत्त्व यही है। प्रगति के यही सिद्धांत भौतिक जीवन की सफलता के कारण बनते हैं

और इन्हीं को अपनाने से आत्मोत्कर्ष का परमलक्ष्य प्राप्त होता है। जो इस रहस्य को समझते हैं, वे ही सत्य को जानते हैं। सही मार्ग को अपनाते और सत्य में रहने वाले हजार हाथियों के बल से सुसंपन्न बनते हैं। सिद्धियाँ उनके चरणों में लोटती हैं। इसी जीवन में वैभव और वर्चस्व के अधिष्ठाता बनकर अपना अनुकरणीय उदाहरण सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत करते हैं। ईश्वर के सहयोगी की भूमिका संपन्न करते हुए वे स्वयं करते और दूसरों को तारते हैं॥ ७५-८०॥

जिज्ञासवोऽत्र संदर्भे सारं चिन्तनजं त्विदम्।
स्वयमेवास्ति भाग्यस्य विधाता स्वस्य मानवः॥ ८१॥
यज्जीवाय प्रभुस्तस्य पातोत्थान द्वयोरपि।
स्वातन्त्र्यं प्रददौ ज्ञानं कौशलं च परीक्षितम्॥ ८२॥
उत्तीर्णास्तु परीक्षायां ये तेऽभ्युदयमार्गगाः।
भवंति तैश्च प्राप्यंते दिव्योपहृति भूतयः॥ ८३॥
व्यतिकुर्वंति दैवं ये त्वनुशासनमेव हि।
पतनस्य महागर्ते ते पतंति नरा ध्रुवम्॥ ८४॥

टीका—हे जिज्ञासुओ! इस संदर्भ में चिंतन का सार-निष्कर्ष यही है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। जीव को अपने उत्थान और पतन की पूर्ण स्वतंत्रता देकर ईश्वर ने उसके विवेक और कौशल को परखा है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, वे अभ्युदय के मार्ग पर अग्रसर होते हैं और दिव्य उपहारों की विभूतियाँ प्राप्त करते हैं। जो दैवी अनुशासन का व्यतिरेक करते हैं, वे पतन के गर्त में निश्चित रूप से गिरते हैं॥ ८१-८४॥

प्रथमस्य दिनस्यास्या जिज्ञासायाः समाहितिम्।
महत्त्वमहितायाः स ऋषिवर्यो यथाऽऽददे॥ ८५॥

मनीषिणस्तदाकर्ण्य सर्वेसंतोषमागताः ।
संदेहा निर्गता ज्ञानदृष्टिरुन्मेषमभ्यगात् ॥ ८६ ॥
इयत्यपि प्रसंगेऽस्मिन् बोद्धुं तेषां महात्मनाम् ।
जिज्ञासात्वविशिष्टा ते परं मौनमुपागताः ॥ ८७ ॥

टीका—प्रथम दिन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा का समाधान महर्षि याज्ञवल्क्य ने जिस प्रकार किया, उसे सुनकर सभी मनीषियों को बहुत संतोष हुआ। भ्रम-संदेह दूर हुए और ज्ञानकपाट खुले। इतने पर भी इस प्रसंग में अधिक जानने की जिज्ञासा बनी रही, तथापि मौन रहे ॥ ८५-८७ ॥

सायंकाले समायाते यथा नियममेव च ।
प्रथमस्य दिनस्येदं समाप्तं सत्रमुज्ज्वलम् ॥ ८८ ॥
जिज्ञासवस्तु ते कर्म सान्ध्यं कर्तुं च नैत्यिकम् ।
परस्परं नमन्तोऽयुः कुटीरान् ब्रह्मचिन्तनाः ॥ ८९ ॥

टीका—सायंकाल निकट आने पर नियमानुसार प्रथम दिन का महत्त्वपूर्ण ज्ञानसत्र समाप्त हुआ। सभी जिज्ञासुगण सायंकाल का नित्य नियम संपन्न करने के लिए परस्पर वंदन-अभिवादन करके ब्रह्मचिंतन करते हुए अपने-अपने आश्रम-कुटीरों की ओर चले गए ॥ ८८-८९ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते 'कर्म-व्यवस्था' इति प्रकरणो नाम

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

आत्मपरिष्कार लोक-साधना प्रकरण

द्वितीये दिवसे तत्र नियते समये समे।
आगता नियतस्थाने मुनयस्ते मनीषिणः ॥ १ ॥
समवेतस्वरे मंत्रोच्चारे प्रारब्धमुत्तमम्।
ज्ञानसत्रं प्रश्नकर्त्ता कश्यपोऽभून्महामतिः ॥ २ ॥
स्वकीयां प्रश्न-जिज्ञासां समुपस्थापयँश्च सः।
याज्ञवल्क्यं ज्ञानसत्राधिष्ठातारं पप्रच्छ च ॥ ३ ॥

टीका—नियत समय पर, नियत स्थान पर लोक-मंगल की कामना से परिपूरित सभी मुनि-मनीषी एकत्रित हुए। सामूहिक मंत्रोच्चार के उपरांत ज्ञानसत्र प्रारंभ हुआ। आज के प्रश्नकर्त्ता महामनीषी कश्यप थे। उन्होंने प्रथम जिज्ञासा उपस्थित करते हुए प्रस्तुत ज्ञानसत्र के अधिष्ठाता ऋषि श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य से पूछा— ॥ १-३ ॥

कश्यप उवाच—

भवता हे महाभाग! प्रथमे दिवसे नरः।
स्वस्य भाग्यस्य निर्माता कथितः स्वयमेव हि ॥ ४ ॥
तद् बोधयन् मनुष्यस्य पतनोत्थानयोरपि।
कर्मणः प्रक्रियां हेतुं भवान् बोधितवान् प्रभो ॥ ५ ॥
शुभाशुभानि कर्माणि क्रियंते कुत एव हि।
हानीर्जानन् कथं मर्त्यो दुष्कर्म निरतोऽस्ति स्तः ॥ ६ ॥
लाभान् सत्कर्मजान् जानन्नपि नैतानि कुर्वते।
कथं सदा शुभोपेक्षा चलत्यशुभसंरतिः ॥ ७ ॥

ऋषिवर्य महत्यास्तु सृष्टेः सञ्चालने नरः।
सहयोगी प्रभोः किं तत् प्रयासं याति नानुगम्॥ ८॥
स्पष्टतां नीयतामेतद् रहस्यं येन मानवः।
भवेद्धन्यः प्रभोस्तस्य योजनामनुसंचलन्॥ ९॥

टीका—कश्यप बोले—हे महाभाग! गत दिवस आपने मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बताया और उसके उत्थान-पतन का कारण कर्म-प्रक्रिया को बताया। वह शुभ-अशुभ कर्म क्यों कर बन पड़ते हैं? हानियों को समझने-समझाने पर भी मनुष्य क्यों दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है? सत्कर्मों का लाभ जानते हुए भी उन्हें करने के लिए क्यों तत्पर नहीं होता? शुभ की अपेक्षा अशुभ की तत्परता का प्रवाह किस कारण चलता रहता है? हे ऋषि श्रेष्ठ! इस महान सृष्टि के संचालन में मनुष्य ईश्वर का सहयोगी तो है, किंतु वह उसके अनुरूप प्रयास क्यों नहीं करता? इस रहस्य को स्पष्ट करें, ताकि मनुष्य ईश्वरीय योजना के अनुरूप चलकर अपना जीवन धन्य बना सके॥ ४-९॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

तात! गूढस्तवैषोऽस्ति प्रश्नः श्रेयस्करस्तथा।
आकर्ण्यास्य समाधानमसंख्यानां नृणां स्वयम्॥ १०॥
उन्मेषो दिव्यदृष्ट्यास्तु भविष्यति न संशयः।
भ्रांतेश्च विरतास्ते स्युर्लोकद्वयरताः सदा ॥ ११॥
दिव्याभिः क्षमताभिस्तु संपन्नस्तात् मानवः।
सत्यमेतदिमे संति अंतःस्था बीजरूपगाः ॥ १२॥
ऐश्वराणि तु कार्याणि यानि तेभ्य इमाः स्वयम्।
विकासमधिगच्छंति प्रयुज्यंते च नान्यथा॥ १३॥

अपेक्षया विकासस्य तासां केवलमातुराः।
मानवा उपयोगाय त्रुटिरेषैव मौलिकी ॥ १४॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे तात! आपका प्रश्न बहुत ही गूढ़ और श्रेयस्कर है। इसका समाधान सुनकर असंख्यों के ज्ञानकपाट खुलेंगे और वे भटकाव से विरत होकर अपने लोक-परलोक को समुन्नत बना सकेंगे। हे तात! मनुष्य दिव्य क्षमता संपन्न है—यह सत्य है, किंतु यह सत्य भी अपनी जगह अटल है कि ये क्षमताएँ अंत:क्षेत्र में बीजरूप में अवस्थित होती हैं, वे ईश्वरीय उद्देश्यों के लिए ही विकसित एवं प्रयुक्त हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। मनुष्य उन्हें विकसित करने की अपेक्षा उनके उपयोग के लिए आतुर हो उठता है, यही उसकी मौलिक भूल है॥ १०-१४॥

अंतःकरणमेवास्ति जीवात्मनः स आश्रयः।
जन्मांतर-कुसंस्काराः क्षेत्रेऽस्मिन् सिञ्चितास्तु ये॥ १५ ॥
हेयस्तरानुरूपाणां प्राणिनामिव तत्र याः।
आकांक्षास्ताः समुद्भूताः कुर्वन्त्येते भृशं सदा॥ १६ ॥
अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य आकांक्षैवास्ति मुख्यतः।
शक्तिस्तस्याः समुद्वेगा आश्रयंति तु यं स्तरम्॥ १७ ॥
तेषामेव तु पूर्तौ तन्मनः संस्थानमाचरेत्।
नरस्य स्वामिभक्तस्य चेष्टा उच्चावचाः स्वयम्॥ १८ ॥
मनसस्तु शरीरं हि सेवकस्तस्य चाज्ञया।
चेष्टते विवशं तात आकांक्षाजा विचारणा॥ १९ ॥
मता विचारणोत्पन्ना क्रिया ताः केंद्रिता अपि।
हेतवोऽन्तरिहोत्थान पतनाद्यवबोधकाः ॥ २० ॥

टीका—अंतःकरण ही जीवात्मा का आश्रय स्थल है। इस क्षेत्र में जन्म-जन्मांतरों के भरे कुसंस्कार हेय स्तर के प्राणियों जैसी आकांक्षाएँ उत्पन्न करते हैं। आकांक्षा ही अध्यात्म जगत की प्रमुख शक्ति है। उसकी उमंगें जिस स्तर की होती हैं, उसी की पूर्ति मनःसंस्थान को स्वामिभक्त सेवक की तरह ताना-बाना बुनना पड़ता है। मन का शरीर सेवक है। शरीर को मन का आदेश मानना पड़ता है। आकांक्षा से विचारणा और विचारणा से क्रिया बनती है। उत्थान-पतन के आधारभूत कारण अंतःकरण में ही केंद्रित रहते हैं॥ १५-२०॥

सञ्चितैस्तु कुसंस्कारैर्मुक्ता नैव तु ये नराः।
दुरास्थाश्च दुराकांक्षाः पशुतुल्याः श्रयंति ते॥ २१॥
मानवस्य शरीरस्यावाप्तिर्नैव परं मता।
भाग्यवंतस्तु ते मर्त्या तरन्ति आश्रयंति ये॥ २२॥
मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
कथ्यते तात विद्वद्भिरंतःकरणसंज्ञकम् ॥ २३॥

टीका—संचित कुसंस्कारों से जो छुटकारा नहीं पाते, वे नर-पशुओं जैसी हेय स्तर की आस्थाएँ, आकांक्षाएँ, आदतें अपने ऊपर लादे रहते हैं। मनुष्य शरीर पाना ही पर्याप्त नहीं, सौभाग्यशाली वे हैं, जो मनुष्य स्तर का अंतःकरण उपलब्ध कर सकें। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का चतुष्टय ही अंतःकरण कहलाता है॥२१-२३॥

तथ्यमेतत् सुविदितं प्रवाहो वारिणः स्वयम्।
निम्नं धावति भूमेः सा गुरुत्वाकर्षणेरिता॥ २४॥
सुशक्तिः सैव, सर्वास्ताः पाशव्यः शक्तयः सदा।
सक्रियाः संति पातायातिमात्रं प्रेरयंति च॥ २५॥

आत्मानं तु ततो मोक्तुं पौरुषं भावनामयम्।
कर्तुं योग्या नरा एवउच्चां गच्छंति संस्थितिम्॥ २६॥
उच्चान् लोकांश्च गच्छंति सद्‌गतीः प्राप्नुवंति च।
आत्मिकीः सुविभूतीस्ताः भौतिकीः संपदा अपि॥ २७॥
उपलब्धुं नरा आत्मपरिष्कारररतास्तु ये।
सफलास्ते भवन्त्येव पराक्रमसु साधनाः॥ २८॥

टीका—यह एक सुविदित तथ्य है कि पानी का प्रवाह स्वभावतः नीचे की ओर होता है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तरह पाशविक प्रवृत्तियाँ निरंतर सक्रिय रहती हैं और पतन के लिए आकर्षक दबाव डालती हैं। उससे मुक्त होने का भावनात्मक पुरुषार्थ कर सकने वाले ही ऊँचे उठते हैं। वे ही उच्च लोकों को गमन करते व सद्‌गति प्राप्त करते हैं। आत्मिक विभूतियों और भौतिक संपदाओं को उपलब्ध करने में ऐसे आत्मपरिष्काररत पराक्रमी ही सफल होते हैं। ऐसा पराक्रम ही साधना कहलाता है॥ २४-२८॥

संतुष्टस्तु बभूवासौ जिज्ञासुः कश्यपो मुनिः।
अन्यज्ज्ञातुं स औत्सुक्यात्प्राज्ञं संबोध्य चागदीत्॥ २९॥

कश्यप उवाच—

इदं ज्ञातमभूद्देव! मानवः क्षमता निजाः।
उपयोक्तुं वर्धितुं च विधौ मुह्यन् पतत्यधः॥ ३०॥
किंतु जानंति ये त्वेतत् साधनां च पराक्रमम्।
कथं क्रियान्विते कुर्युः प्रक्रियां स्पष्टय प्रभो॥ ३१॥

टीका—जिज्ञासु कश्यप इस समाधान से संतुष्ट तो हुए, परंतु और भी अधिक जानने की उत्सुकतावश उन्होंने महाप्राज्ञ को संबोधित करते हुए अपना दूसरा प्रश्न प्रस्तुत किया। कश्यप बोले—हे देव!

यह तो विदित हुआ कि मनुष्य अपनी क्षमताओं के सदुपयोग एवं उन्हें विकसित करने की आवश्यकता को न समझ पा सकने के कारण ही गिरता है, किंतु जो इसे समझ पाते हैं, वे इस साधना पराक्रम को कैसे क्रियान्वित करें, इस प्रक्रिया को स्पष्ट करें॥ २९-३१ ॥

महाप्राज्ञो याज्ञवल्क्य उवाचात्र विचारयन्।
तात आत्मपरिष्कारे निरतो ना हि बुद्धिमान्॥ ३२ ॥
साधनात्मकरूपा या प्रयत्नपरिशीलता।
सैव तान् सार्वभौमाया उन्नतेर्दिव्यदानकैः॥ ३३ ॥
युतान् करोति ये चैतदवलंबन संयुताः।
नरजन्मस्थ सौभाग्यं श्रेयस्तेऽथापि यान्त्यलम्॥ ३४ ॥
अस्यावश्यकतां ये न जानन्त्यपि संरताः।
वासनेन्द्रिय लिप्साया प्रदर्शनकुदर्पके ॥ ३५ ॥
भ्रमंति मृगतृष्णायां बहुमूल्यैश्च हापिताः।
सौभाग्यैरात्मसंस्कार उन्नत्यै वर्त्म केवलम्॥ ३६ ॥

टीका—महाप्राज्ञ याज्ञवल्क्य विचारकर बोले हे—तात ! आत्मपरिष्कार में निरत मनुष्य ही सच्चे अर्थों में बुद्धिमान हैं। साधनात्मक प्रयत्नशीलता ही उन्हें सर्वतोमुखी प्रगति के दिव्य वरदानों से लादती है। जो इस अवलंबन को अपनाते हैं, वे मनुष्य जन्म के साथ जुड़े हुए श्रेय सौभाग्य का लाभ लेते हैं। जो इसकी आवश्यकता नहीं समझते, इंद्रियों की लिप्सा-वासनाओं की तृष्णा और प्रदर्शन की अहंता में उलझे रहते हैं, वे भ्रम-जंजालों में भटकते और अपने बहुमूल्य सौभाग्य को हाथ से गँवा देते हैं। उत्थान का एक ही उपाय है—आत्मपरिष्कार॥ ३२-३६ ॥

कारणं पतनस्यैकं बहुसंख्यकसंमताः ।
नरास्तु पशुतुल्या ये तेषामंधानुसंसृतिः ॥ ३७ ॥
विज्ञा विवेकवंतो हि श्रयंते दूरदर्शिताम् ।
स्वतंत्रं गततथ्यास्ते यांति सिद्धांतसंमतम् ॥ ३८ ॥
न भवन्ति परापेक्षाः सिद्धान्तानां क्रियान्वितौ ।
स्वं दृष्टिकोणं चिनवान्तो रीतिर्नीती श्रयन्ति स्वाः ॥ ३९ ॥
आदर्श मार्गे चलितुं शक्ता एकाकिनस्तु ते ।
मनस्विनो वदन्त्येतास्तेजस्विन इहापि च ॥ ४० ॥
सार्थक्यं जीवनस्यैतेऽनुभवंति नरा मुने ।
निश्चितं च स्वतो धन्या वदान्या जगतीतले ॥ ४१ ॥

टीका—पतन का एक ही कारण है, बहुमत वाले नर-पशुओं के चिंतन और व्यवहार का अंधानुकरण। विज्ञजन, विवेकवान होते हैं, दूरदर्शिता अपनाते हैं, तथ्यों पर स्वतंत्र विचार करते और सैद्धांतिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। सिद्धांतों के क्रियान्वयन में वे परमुखापेक्षी नहीं होते। वे अपना दृष्टिकोण स्वयं बनाते और अपनी रीति-नीति स्वयं निर्धारित करते हैं। आदर्श मार्ग पर एकाकी चल सकने वाले साहसी लोग ही मनस्वी-तेजस्वी कहलाते हैं। जीवन की सार्थकता का अनुभव निश्चित रूप से इसी स्तर के लोगों को होता है। हे मुने ! यही लोग पृथ्वी पर धन्य हैं॥ ३७-४१ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

तात ! आत्मपरिष्कारश्चतुर्विध इहोदितः ।
समीक्षा संस्कृतिश्चास्य विकासो निर्मितिस्तथा ॥ ४२ ॥
मनुष्यस्तरतो हेया मान्यताः प्रकृतीस्तथा ।
दुष्प्रवृत्तीश्च विज्ञाय समीक्षक इव स्वयम् ॥ ४३ ॥

हानीस्तासां च विज्ञाय तासां निष्कासनस्य च।
अनिवार्यानुभूतिस्तु प्रोक्तमात्मा समीक्षणम् ॥ ४४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य ने कहा—हे तात! आत्मपरिष्कार के चार उपाय हैं—आत्मसमीक्षा, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास। मनुष्य स्तर से गए बीते स्तर की मान्यताओं और आदतों को अपने व्यक्तित्व के स्तर की दुष्प्रवृत्तियों को कटु समीक्षक की तरह ढूँढ़ निकालना, उनकी हानियों को समझना तथा उनके निष्कासन की आवश्यकता अनुभव करना ही आत्मसमीक्षा है॥ ४२-४४॥

स्वस्मिन्नवांछनीयं यद् गरिम्णः प्रतिकूलगम्।
निकृष्ट प्राणियोग्यं यत्तस्यदूरापसारणम् ॥ ४५ ॥
तथा नरगरिम्णश्चानुरूपं दृष्टिकोणकम् ।
स्वीकर्तुं योजनारंभोऽन्वितिश्चास्यात्मसंस्कृतिः ॥ ४६ ॥
आत्मन आत्मनेत्यर्थं संघर्षः कर्तुमिष्यते।
चर्चितः स तपश्चर्या-मनोनिग्रहसंयमैः ॥ ४७ ॥
अस्मिन्नेव शुभे मार्गे ये चलंति तु मानवाः।
आत्मसंस्कारवन्तस्ते जगत्कुर्युः सुसंस्कृतम्॥ ४८ ॥

टीका—अपने में जो अवांछनीय है, मानवी गरिमा के प्रतिकूल तथा निकृष्ट योनि वाले प्राणियों के योग्य है, उसे हटाने तथा मानवी गरिमा के अनुरूप दृष्टिकोण अपनाने की योजना बनाना, उसे कार्यान्वित करना, 'आत्मसुधार' है। इसके लिए अपने आपके साथ कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इसी पराक्रम को मनोविग्रह, संयम, साधना तथा तपश्चर्या के नाम से जाना जाता है। इसी मार्ग पर चलने वाले आत्मसुधार कर पाते हैं और जगत को भी सुधार देते हैं॥ ४५-४८॥

नवीनस्तु शुभारंभ, आत्मनिर्मितिरुच्यते ।
यासां तु सत्प्रवृत्तीनामभ्यासोऽभून्न जीवने॥ ४९ ॥
जीवनस्य तु चर्यायां तासां नव्यतयान्वितिः।
नरस्य सृजनात्मिक्याः प्रवृत्तेस्तत्प्रमाणकम्॥ ५० ॥
आत्मनिर्माणमेवास्ति भाग्यनिर्माणमुज्ज्वलम्।
इत्थं यत्नरता विश्वभविष्यद् भावयन्त्यलम्॥ ५१ ॥
अवांछनीयतोच्छेदो वाञ्छितस्य च संस्थितिः।
पूरकौ तौ मतौ नूनं विद्वद्‍भिस्तु परस्परम्॥ ५२ ॥
अनुपयुक्तसंस्कार उपयुक्तप्रतिष्ठितिः ।
मिलित्वा कायकल्पस्य रूपे दृष्टिपथं व्रजेत्॥ ५३ ॥
समर्था य इदं कर्तुं कृतकृत्या भवंति ते।
भाग्यवंतश्च कथ्यंते मोदंत उभयत्र च॥ ५४॥

टीका—आत्मनिर्माण नया शुभारंभ है। जिन सत्प्रवृत्तियों का अभी अभ्यास नहीं हो पाया है, उनको नए सिरे से जीवनचर्या में समावेश करने का कार्य मनुष्य की सृजनात्मक विशेषता का प्रमाण है। आत्मनिर्माण का नाम ही भाग्यनिर्माण है। ऐसे प्रयत्नरत ही विश्व के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकने में समर्थ होते हैं। अवांछनीयता का निष्कासन और वांछनीयता का संस्थापन परस्पर पूरक हैं, ऐसा विद्वानों का मत है। अनुपयुक्त का सुधार और उपयुक्त का प्रतिष्ठान मिलाकर ही कायाकल्प के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जो यह कर सकते हैं, वे ही कृतकृत्य होते हैं और इहलोक तथा परलोक दोनों में सदा प्रसन्न रहते हैं॥ ४९-५४॥

आत्मनस्तु विकासः स कथित आत्मविस्तरः।
महाव्यक्तित्व संपन्ना वसुधैव कुटुंबकम्॥ ५५॥

सिद्धांतं जीवने नूनमन्वयन्ति दिने दिने ।
विभजंतस्तु दुःखानि-सुखानि वंटयंति ते॥ ५६ ॥
स्वीया एव समे तेषां यदात्मत्वं विवर्धते।
उदारसहकारित्वं विकासमधिगच्छति ॥ ५७ ॥
संकीर्णस्वार्थ-संत्यागो भवबंधन-मोचनम्।
चिंतनस्य प्रयासस्य सत्स्थितिर्मुक्तिरुच्यते॥ ५८ ॥
आदर्शार्पित-व्यक्तित्वा ईश्वरैक-परायणाः।
कथ्यंते लघ्वहं भूम्नि दत्त्वा ते परमात्मताम्॥ ५९ ॥
यांति आत्मन उच्चतां पदवीं जीवनस्य च।
लक्ष्यमेतदभीष्टं च परमात्मन एव तु॥ ६० ॥
स्तरमेनं तु यं यांति पूर्णतां प्राप्नुवंति ते।
मनःस्थितिर्गतिश्चैव येषां चापि गते स्तरम्॥ ६१ ॥
सच्चिदानंदसान्निध्यं परब्रह्मण एव ते।
आप्नुवंति सदा दिव्यं दर्शनं कुर्वते प्रभो॥ ६२ ॥
दैवानिर्वचनीयस्य संतोषस्य सदैव तु।
उल्लासस्य च कुर्वंति तेऽनुभूतिं नरर्षभ! ॥ ६३ ॥

टीका—'आत्मविकास' का अर्थ है—आत्मविस्तार। महान व्यक्तित्व '**वसुधैव कुटुंबकम्**' का सिद्धांत व्यावहारिक जीवन में क्रियान्वित करते हैं। वे दूसरों का दुःख बँटाते और अपना सुख बँटाते हैं। उनके लिए सभी अपने होते हैं। आत्मीयता बढ़ेगी तो उदार सहकारिता भी विकसित होगी ही। संकीर्ण स्वार्थपरता से छुटकारा पाना ही भवबंधनों से छूटना है। चिंतन और प्रयास का सदुद्देश्यों में लग जाना ही मुक्ति है। आदर्शों के लिए समर्पित व्यक्ति ही ईश्वरपरायण

कहलाते हैं। क्षुद्र अहंता को विराट में समर्पण करने वाले ही आत्मा की सर्वोच्च पदवी 'परमात्मा' को प्राप्त करते हैं। यही जीवन का लक्ष्य और परमेश्वर को अभीष्ट है। पूर्णता इसी स्तर पर पहुँचने वाले को प्राप्त होती है। जिनने अपनी मनःस्थिति और गतिविधि इस स्तर की बना ली, उन्हें निरंतर सच्चिदानंद घन परब्रह्म की निकटता का दिव्य दर्शन होता है और देवताओं के समान अनिर्वचनीय संतोष-उल्लास का सतत अनुभव होता रहता है॥ ५५-६३॥

कश्यप उवाच—

अंतःक्षेत्र-परिष्कारं चतुश्चरण-लक्षणम्।
व्याख्याय भवता नूनं वयं सर्वेऽनुकंपिताः॥ ६४॥
कृपयेदं भवान् ब्रूतां यन्नरेषु कथं त्विमान्।
सिद्धांतान् हि फलीभूतान् कर्तुं सा क्षमतोदयेत्॥ ६५॥
बहिरंगान्तरंगे तेऽप्यभ्यास प्रक्रिये तु ये।
ताभ्यामिमाँश्चगृह्णंतः कथं सिद्धीरवाप्नुयुः॥ ६६॥

टीका—कश्यप बोले—हे प्रभु ! आपने अंतःक्षेत्र के परिष्कार के चारों चरणों को स्पष्ट करके हम सभी पर बड़ा अनुग्रह किया है। अब कृपा करके यह और बताएँ कि मनुष्य में इन सिद्धांतों का फलीभूत करने की क्षमता कैसे विकसित हो? अंतरंग एवं बहिरंग अभ्यास-प्रक्रिया द्वारा उन्हें आत्मसात् करते हुए साधक सिद्धियाँ कैसे प्राप्त करें?॥ ६४-६६॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

तात प्रश्नस्तवैषोऽस्ति विचार-परिशीलितः।
तथ्यान्वेषि मतिद्योत्यः सावधानं ततः श्रृणु॥ ६७॥
उपायौ द्वौ मतावात्म समीक्षण-कृते तथा।
आत्मसंस्कृति-निर्माण-विकासानां कृतेऽपि च॥ ६८॥

एकांतचिन्तनं चापि मननं प्रथमस्तथा।
स्वाध्यायः स च सत्संगो बाह्य साधनजौ मुने॥ ६९ ॥
चिंतने वर्तमानस्य भूतस्य पर्यवेक्षणम्।
मनने तु विकासाग्रयोजना निर्मितिस्तु या॥ ७० ॥
ततो निर्धारणोन्मेषः साहसोत्साहजो भवेत्।
स्वाध्यायो जायते तस्य साहित्यस्य सतो मुने॥ ७१ ॥
आत्मनः स्तरमुन्नेतुमर्हमंतः समाहितुम् ।
उत्कृष्ट चिंतना मे तु सादर्शचरितास्तथा॥ ७२ ॥
परमार्थपरास्तेषां नृणां संगः सुसंगति ।
तुलितः पारदेनैव मणिना निर्मलेन तु ॥ ७३ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे तात! यह प्रश्न आपकी विचारशीलता एवं तथ्यान्वेषी बुद्धि का परिचायक है। आप सभी इस विवेचन को ध्यानपूर्वक सुनें। आत्मसमीक्षा, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास की चार सीढ़ियों को पार करने के लिए दो उपाय हैं—एकांत विचारणा के रूप में चिंतन और मनन। दूसरा बाह्य साधनों के सहारे उपलब्ध होने वाला स्वाध्याय-सत्संग। 'चिंतन' में भूत और वर्तमान का पर्यवेक्षण किया जाता है। 'मनन' में विकासोन्मुख योजना बनाने से लेकर निर्धारणों को कार्यान्वित करने की उत्साह और साहस से भरी-पूरी तैयारी की जाती है। 'स्वाध्याय' उस साहित्य का होता है, जो आत्मिक स्तर ऊँचा उठाने और अंत:क्षेत्र की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो सके। सत्संग उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श चरित्र वाले परमार्थपरायण महामानवों के सान्निध्य को कहते हैं। उसे पारसमणि की उपमा दी गई है॥ ६७-७३ ॥

आत्मोत्कर्षस्यविज्ञाता आधारास्तु त्वया मुने।
चत्वारो बाह्यक्षेत्रे तान् योक्तुमंतर्विधिं शृणु॥ ७४॥

उत्पादन-क्रियात्वेषा निजसीम्नि सु संभवेत्।
परिपक्वां विधातुं तां साधकः सेवितां व्रजेत्॥ ७५॥
चिंतनेन दिशाप्राप्तिरादर्शांश्चरितुं तथा।
संस्कारानिव संस्कर्तुं स्तर कार्यविधिर्ध्रुवः॥ ७६॥
विचारणा-क्रियाशीलता द्वयोश्च समन्वयात्।
संस्काराः संति व्यक्तित्वं संस्काराणां समुच्चयः॥ ७७॥
सत्प्रवृत्तेस्वसंवृद्धिरात्मोत्कर्षोऽस्ति चिंतनम्।
उत्कृष्टं परिणयेच्चास्मै सादर्शैर्विधिभिर्नरः॥ ७८॥
सेवापरिणतिश्चैषा कथ्यते चास्य ये विधेः।
स्वीकर्तारोऽर्जयन्त्येवं पुण्यं यावच्च हे मुने॥ ७९॥
ततोऽधिकमिमे ह्यात्म-परिष्कारस्य लाभगाः।
संति सद्भाव पक्वत्वं सेविताऽऽसक्ति संभवम्॥ ८०॥

टीका—हे तात ! आत्मोत्कर्ष के चार आधार आपने सुने। उनको अंतरंग एवं बहिरंग-क्षेत्र में उतारने के उपाय भी समझे। यह उत्पादन-प्रक्रिया हुई, जो निजी क्षेत्र में संपन्न हो जाती है, किंतु इसे परिपक्व करने के लिए हर साधक को सेवा-क्षेत्र में प्रवेश करना होता है। चिंतन से दिशा भर मिलती है। आदर्शों को अभ्यास में उतारने और संस्कारों की तरह परिपक्व करने के लिए उसी स्तर के काम करना आवश्यक है। विचारणा और क्रियाशीलता के समन्वय से ही संस्कार बनते हैं। संस्कारों का समुच्चय ही व्यक्तित्व कहलाता है। सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन ही आत्मोत्कर्ष है। इसके लिए उत्कृष्ट चिंतन को आदर्शवादी क्रिया-कलापों में परिणत करना पड़ता है। सेवा इसी की परिणति को कहते हैं। इस रीति-नीति को अपनाने वाले जितना दूसरों की सहायता का पुण्य अर्जित करते हैं, उससे भी अधिक वे

आत्मपरिष्कार का लाभ उठाते हैं। सद्भावनाओं की परिपक्वता उदार सेवा परायणता में निरत रहने पर ही संभव होता है ॥ ७४-८० ॥

भौतिकैरपि कष्टैस्तु पीडितानां हि साधनैः।
साहाय्यं यत्तदप्यास्ते सेवा यद्यपि निश्चिता॥ ८१ ॥
परं ततोऽपि सा श्रेष्ठा ययाऽन्ये सद्गुणान्विताः।
क्रियंते प्रेरणादानं चरित्रचिति बोधकम् ॥ ८२ ॥
तत्स्तरस्थ प्रयासेषु नियोजनमपि स्वयम्।
उच्चस्तरास्ति सेवैव साधना च महामुने॥ ८३ ॥
पीडाकष्टविदः सर्वे परं पातस्य सा मुने।
परिणतिस्ततोऽप्येषा भयदा भवतीह तु ॥ ८४ ॥
साधनानां प्रदानैर्यत् पीडावारणमिष्यते।
पतनोद्धारकं श्रेष्ठं ततः सद्वृत्तिवर्द्धनम्॥ ८५ ॥
साधनैर्ये तु संपन्नास्ते पीडावारणे रताः।
दृष्टास्तथात्मवंतश्च सद्वृत्ति-परिवर्धकाः ॥ ८६ ॥
तेषां जीवनचर्या तु सामान्यानां तु लोभिनाम्।
सुविधाजीविनां तात दृष्ट्या भिन्नेव दृश्यते॥ ८७ ॥

टीका—सेवा यों भौतिक कष्टों से पीड़ितों की साधनों की सहायता से करने को भी कहते हैं, किंतु उससे भी ऊँची वह है, जिसमें दूसरों को सद्गुणी बनाया जाता है। चिंतन और चरित्र को ऊँचा उठाने वाली प्रेरणाएँ देना, उस स्तर के प्रयासों में नियोजित कर देना उच्चस्तरीय सेवा-साधना है। पीड़ा का कष्ट सभी जानते हैं, किंतु पतन की परिणति और भी अधिक भयावह होती है। अस्तु, पीड़ा निवारण की साधन, सहायता से भी बढ़कर पतन से उबारने वाले सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन को महत्त्व दिया जाता है। साधन संपन्न पीड़ा

निवारण का और आत्मवान सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन का प्रयास करते देखे गए हैं। उनकी जीवनचर्या सामान्य सुविधा जीवियों-लालचियों से भिन्न स्तर की आदर्शनिष्ठ होती है॥ ८१-८७॥

संचयेच्छां विहायात्र प्रदर्शन-सुकामनाः।
वपुर्यात्रा-करैस्तुष्टा शेषांशैरुपकुर्वते ॥८८॥
आत्मोन्नतिकरा ये तु न बाह्ये जगति क्वचित्।
साधनानामहो तेषां सहयोगस्य न्यूनता ॥८९॥
महत्तैषा तु तेषां यदुच्चस्तर सुभावगा।
निजापेक्षतयाऽन्येषां भोगैस्तुष्टाः सुखं ययुः॥९०॥
अल्पतुष्टा नरा विप्राः साधवो परमार्थगाः।
आभिर्विशेषताभिश्च युक्ता भक्ताः प्रभोः स्मृताः॥९१॥
अजस्रैरनुदानैश्च प्रभोर्लाभान्विताश्च ते ।
आत्मसाधनमाबद्धं लोकस्याराधनेन हि ॥९२॥
आत्मोत्थानस्य पंथास्तु मत एषोऽत्र ये नराः।
चलंति तेऽधिगच्छंति पतनं न पराभवम्॥९३॥

टीका—संचय और प्रदर्शन की लालसा छोड़कर शरीरयात्रा भर के साधनों में संतोष करने वाले ही अपने उपार्जन का महत्त्वपूर्ण अंश परमार्थ-प्रयोजनों में लगा पाते हैं। जो आत्मिक प्रगति करते हैं, उन्हें बाह्य जगत में न साधकों की कमी रहती है न सहयोग की। यह उनकी महानता है कि उच्चस्तरीय उदारता से प्रेरित होकर स्वयं खाने की अपेक्षा दूसरों को खिलाने में असंख्य गुना संतोष-आनंद अनुभव करते हैं। स्वल्प संतोषी को ब्राह्मण और परमार्थपरायण को साधु कहते हैं। इन विशेषताओं से संपन्न व्यक्ति ही सच्चे ईश्वरभक्त कहलाते हैं और परमेश्वर के अजस्र अनुदानों से लाभान्वित होते हैं।

हे तात ! आत्मसाधना और लोक आराधना एकदूसरे के साथ अविछिन्न रूप से संबद्ध हैं। यही है आत्मिक उत्थान का मार्ग। इस पर चलने वाले पतन-पराभव से अनायास ही बच जाते हैं॥ ८८-९३ ॥

द्वितीयेऽह्नि तु सत्संगो यस्तेनाधिकं ततः।
समाधानमभूत्तेषां जिज्ञासूनां तु तत्क्षणात्॥ ९४॥
सत्रावसानवेलां च समीपस्थां विलोक्य सः।
अधिष्ठाता तु तां गोष्ठीं समाप्ता विदधे स्वयम्॥ ९५॥
उपलब्धामृतोन्मेषैरानंदित तनूरुहाः।
जिज्ञासवस्तु संलग्नाः निशासान्ध्यक-कर्मसु॥ ९६॥

टीका—दूसरे दिन के सत्संग से आत्मविद्या के जिज्ञासुओं का और भी अधिक समाधान हुआ। सत्र की अवसान वेला देखकर अधिष्ठाता ने उस गोष्ठी का समापन कर दिया। उपलब्ध अमृत वर्षा से आनंदित होते हुए जिज्ञासुगण संध्या और रात्रि के लिए निर्धारित कार्यक्रमों में संलग्न हो गए॥ ९४-९६॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, महर्षि कश्यप याज्ञवल्क्य संवादे 'आत्मपरिष्कार लोक-साधना' इति प्रकरणो नाम

॥ द्वितीयोऽध्यायः॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

व्यावहारिक तपोयोग प्रकरणम्

तृतीयेऽह्नि पुनर्ब्रह्मविद्यासत्रं तथैव तत्।
स्वस्तिवाचनपूर्वं च प्रारब्धं समभूदथ ॥ १ ॥
दिनस्यास्य जरत्कारुर्मुख्यो जिज्ञासुराह तम्।
मनीषिमानितः सत्राध्यक्षं वाग्मी मुनिः स्वयम्॥ २ ॥

टीका—तीसरे दिन का ब्रह्मविद्या सत्र पुनः अपने नियत समय पर प्रारंभ हुआ। स्वास्तिवाचन जैसे मंगलाचरण के साथ शुभारंभ किया गया। इस दिन के प्रमुख जिज्ञासु की भूमिका निभाते हुए मनीषियों में मूर्द्धन्य और विवेचकों में प्रख्यात मुनि जरत्कारु ने सत्राध्यक्ष से पूछा— ॥ २-३ ॥

जरत्कारुरुवाच—

भवता बोधितं रूपं दुरूहायास्तु देव ! नः।
आत्मोत्कर्ष विधायिन्याः साधनाया जनानुगम्॥ ३ ॥
उदेति च मनस्येकः प्रश्नो यच्छास्त्रसंमतौ।
असंभवा मता योगसाधनाया विना तथा॥ ४ ॥
तपःशक्तेर्विना ह्युच्च लक्ष्यप्राप्तिरिह प्रभो।
तपोयोगस्वरूपं किं सुलभमात्मसाधकम् ॥ ५ ॥
कृपया विस्तरेणैतद् बोध्यतां लोकमंगलम्।
श्रुत्वा प्रश्नं प्रहृष्टश्च याज्ञवल्क्योऽगादीत्ततः॥ ६ ॥

टीका—जरत्कारु बोले—हे देव! आपने गहन और दुरूह समझी जाने वाली आत्मोत्कर्ष की साधना का जनसुलभ स्वरूप समझाया। यहाँ एक प्रश्न और मन में उठ रहा है कि शास्त्रमतानुसार तप की

शक्ति और योग-साधना के बिना उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति असंभव कही गई है। आत्मसाधना को सफल बनाने वाले जनसुलभ तप और योग का स्वरूप क्या हो सकता है? कृपया इसे हमें विस्तार पूर्वक समझाएँ। याज्ञवल्क्य जी प्रश्न सुनकर पुलकित हो उठे और बोले॥ ३-६॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

मान्या ! जन्मान्तरस्थैस्तैः कुसंस्कारैरथैहिकैः।
कुकृत्यैः प्रतिकूलाभिर्वृत्तिभिर्हेयपूरुषैः ॥ ७ ॥
सह योगैरधोगामिप्रवाहो लौकिकस्तु यः ।
तस्य हेतो रतो मर्त्यः कुकृत्येऽचिन्त्यचिन्तने॥ ८ ॥
अस्मादेव भवत्यत्र चक्रव्यूह-विनिर्मितिः।
भवबंधन-शब्देन कीर्त्यते या तु भूतले॥ ९ ॥
भक्तुं कुचक्रमेतत्तु शारीरं मानसं तथा।
प्रखरत्वं समुत्पाद्यं तपश्चर्याऽर्ज्यमुज्ज्वलम् ॥ १० ॥
प्रथमः प्रमुखः पन्था आत्मिक्याः प्रगतेर्मतः।
तपश्चर्या, कुसंस्कारान् सञ्चितान् बलपूर्वकम्॥ ११ ॥
विरुणद्धि नरो यत्तत्तपः साधनमुच्यते ।
प्रथमः चरणः प्रोक्त आत्मिक्याः प्रगतेरयम्॥ १२ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे मनीषियो ! जन्म-जन्मांतरों के कुसंस्कार, इसी जन्म के किए कुकृत्य, अनुपयुक्त वातावरण हेय स्तर के व्यक्तियों का सान्निध्य एवं अधोगामी लोक-प्रवाह के कारण मनुष्य अचिंत्य चिंतन में निरत होकर कुकृत्य करने लगते हैं। इसका एक भयावह चक्रव्यूह बनता है, इसी को भवबंधन कहते हैं। इस कुचक्र को तोड़ने के लिए मानसिक एवं शारीरिक प्रखरता उत्पन्न करनी पड़ती है। इस प्रखरता का उपार्जन 'तपश्चर्या' से होता है। अस्तु, आत्मिक प्रगति

का प्रथम एवं प्रमुख मार्ग तपश्चर्या माना गया है। संचित कुसंस्कारों का हठपूर्वक क्रियात्मक विरोध करने का नाम 'तप-साधना' है। इसे आत्मिक प्रगति का प्रथम चरण कहा गया है॥ ७-१२॥

चिन्तनस्य चरित्रस्य गरिम्णो दायिनीं सदा।
उत्कृष्टतां प्रतिष्ठां स्वां मन्यमाना मनस्विनः॥ १३॥
साधना-सफलाः संति प्रलोभन-विवर्जिता।
अवरोधदृढास्त्याज्यैर्योद्धारस्तु तपस्विनः॥ १४॥
तपस्विनोऽनिवार्यं हि युद्ध्येत स्वयमात्मना।
अभ्यस्त-प्रकृतीर्युक्ता गतीश्च परिवर्तितुम्॥ १५॥
अत्रकाठिन्यमायाति ततः कष्टान्यनेकशः।
पूर्वाभ्यासे तु सह्यानि तितिक्षेयं निगद्यते॥ १६॥

टीका—चिंतन और चरित्र की गरिमा बनाए रहने वाली उत्कृष्टता को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाए रहने वाले मनस्वी ही साधना में सफल होते हैं। प्रलोभनों और दबावों के आगे न झुकने वाले, अवांछनीयता के साथ असहयोग-विरोध का शस्त्र सँभाले रहने वाले तपस्वी कहलाते हैं। तपस्वी को अपने आप से लड़ना पड़ता है तथा अभ्यस्त आदतों और गतिविधियों को उलटना पड़ता है। इसमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हीं का पूर्वाभ्यास करने के लिए कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसे तितिक्षा कहते हैं॥ १३-१६॥

विज्ञाः प्रगतिमार्गे च यातुमग्रे य उच्यते।
अनिवार्यः प्रयासः स कथितो योगसाधना॥ १७॥
योगः स आत्मसत्तायाः संयोगः परमात्मना।
प्रकृत्याकांक्षया यश्च सञ्चितस्तु समुच्चयः॥ १८॥

आदर्शवादिनी या सा कथितोत्कृष्टता तया।
सम्बंधं पुंभिरिष्येत क्रमात् संबद्धतोर्जिता॥ १९॥
स्वार्पणस्य सुभावस्तु चलतीष्टं यदा महान्।
क्षुद्राहंत्वलयः कार्य औत्कृष्ट्ये महतस्ततः॥ २०॥
उक्ता परिणतिश्चास्य जीवन्मुक्तौ तथैव च।
लक्ष्य-प्राप्तौ पूर्णतायामीशप्राप्तौ च निश्चिता॥ २१॥
सदा परमहंसास्तु तिष्ठन्त्यस्यां स्थितौ बुधाः।
समाधिकालयुक्तायां देवत्व-परिवाहिनः ॥ २२॥

टीका—हे विज्ञजनो! प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए जिस दूसरे प्रयास को अनिवार्य माना गया है उसका नाम योग-साधना है। आत्मसत्ता को परमात्मा के साथ जोड़ना योग है। इसमें आकांक्षाओं और आदतों के संचित समुच्चय को आदर्शवादी उत्कृष्टता के साथ संबद्ध करना पड़ता है। यह संबद्धता क्रमशः बढ़ती है तो इष्ट के प्रति आत्मसमर्पण की उमंग उठती है। तब क्षुद्र अहंता का विलय-विसर्जन महान की उत्कृष्टता में करना पड़ता है। इसी की परिणति जीवन्मुक्ति लक्ष्यप्राप्ति पूर्णता एवं ईश्वरप्राप्ति के रूप में होती है। परमहंस इसी समाधि अवस्था में रहते हैं और देवत्व को वहन करने वाले देववाहन बनते हैं॥ १७-२२॥

योगाभ्यासस्य रूपे च क्रियाः कृत्यान्यनेकधा।
स्वीकार्याण्यस्ति येषां च प्रयोजनमिदं मतम्॥ २३॥
ससीम्नोऽसीम्निचैकात्म्यं यत्तस्यैवमनोभुवः।
निर्मितिः क्रमरूपेण केवलं तु महर्षयः॥ २४॥
पूरकौ तु तपोयोगौ विनैकं नहि पूर्णता।
तपोयोगौ प्रक्रिये स्तः सामान्यं जन जीवनम्॥ २५॥

उत्कृष्टकारिके सर्वसुलभे सार्वलौकिके।
योगे स्वत्वं समर्प्यं तदौत्कृष्ट्यं प्रतितत्तथा॥ २६॥
समष्टिं प्रत्युभौ तौस्त आस्थापरप्रयोगकौ।
धर्मलग्नाः साधका हे स्वीकार्यं च महत्त्वकम्॥ २७॥

टीका—हे महर्षियो! योगाभ्यास के रूप में कई प्रकार के क्रिया-कृत्य अपनाए जाते हैं। उन सभी का उद्देश्य सीमित को असीम में मिला देने की क्रमशः मनोभूमि तैयार करना मात्र है। तप और योग परस्पर पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की सफलता शक्य नहीं। योग और तप सामान्य जीवन को उत्कृष्ट बनाने ही की सर्वसुलभ और सार्वजनीन प्रक्रिया है। योग में अपना आपा उत्कृष्टता के प्रति समाप्ति के प्रति समर्पित करना होता है। यह दोनों प्रयोग विशुद्धतः आस्थापरक हैं। हे धर्मपरायण सद्ज्ञान साधको! आस्था को समुचित महत्त्व देना चाहिए॥ २३-२७॥

जरत्कारुरुवाच—

देव ! सैद्धांतिकं व्यक्तं विज्ञानं साधनात्मकम्।
भवताऽत्र क्रियापक्षः बोध्योऽभ्यासस्य बोधकः॥ २८॥

टीका—जरत्कारु बोले—हे देव! साधना विज्ञान का सैद्धांतिक विवेचन आपने अभी हमें स्पष्ट किया। अब इसका क्रियापरक पक्ष और समझाएँ, ताकि उन्हें अभ्यास में उतारने का मार्गदर्शन मिल सके॥ २८॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

ऋषिवर्य ! मया पूर्वं व्याख्यातं यत्तपस्तथा।
योगो नैव विशेषाभिः क्रियाभिर्बाध्यतां गतौ॥ २९॥
आस्था संबद्धतां यातौ पारंपर्यक्रमागताः।
क्रियास्तयोर्जनानां न सुलभा इति मन्यताम्॥ ३०॥

प्रभोरुपवनं विश्वं यदि चोपहृतिं तथा।
जीवनं रम्यतां नेतुं भावमादाय चेष्ट्यते॥ ३१॥
जीवनेऽस्मिंस्तपोयोगौ साध्यावुन्मूलनान्मुने।
दुष्प्रवृत्तेस्तपो, योगः सद्वृत्तेर्वर्धनश्रमात्॥ ३२॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे ऋषि श्रेष्ठ! पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि योग और तप क्रिया विशेष से बँधे नहीं हैं। यदि प्रभु के इस उपवन-विश्व को और प्रभु के उपहार इस जीवन को सुरम्य बनाए रखने का भाव रखते हुए चला जाए तो इस जीवन में ही तप और योग सध सकता है। ऐसी स्थिति में दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन प्रक्रिया से तपवृत्ति और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के प्रयास से योगवृत्ति की साधना सधती है॥ २९-३२॥

स्वभाव वैपरीत्याय योऽन्तर्विग्रह-विग्रहः।
तितिक्षाभ्यास इत्युक्तो नवसंस्कारकारकः॥ ३३॥
सत्साहसमुदेत्येवमनर्हाभ्यस्त-नाशकः।
सद्वृत्तिस्थापकश्चाथमिति जानीहि निश्चितम्॥ ३४॥
सदादर्शान् समुच्छिष्य प्रतियुद्धयन्त एव ये।
अनौचित्यैस्तु गृह्णन्ति काठिन्यं प्रतिकूलताः॥ ३५॥
अभावग्रस्ततां यान्तोऽसहयोगं पदे पदे।
सहन्ते तप एतद्धि त्यागश्चापि मतो बुधैः॥ ३६॥
साहसं शौर्यमेतत्तु तदाध्यात्मिकमुच्यते।
बीजं स्थूलांश नाशो हि वृक्षतां याति तत्पुनः॥ ३७॥
तथ्यमेतद् विजानन्ति ये न ते संकुचन्त्यहो।
विभूतीर्मूल्यतः क्रेतुं ब्रह्मवर्चस्तपः श्रितम्॥ ३८॥

टीका—तितिक्षा का अभ्यास आदतों को उलटते समय होने वाले अंतःविग्रह से जूझने के लिए किया जाता है, जो नए संस्कारों को उभारता है। इससे सत्साहस उभरता है और अभ्यस्त अनौचित्य के उन्मूलन तथा सत्प्रवृत्तियों के संस्थापन में काम आता है। आदर्शों के लिए अड़ने वाले और अनौचित्य से जूझने वाले स्वेच्छापूर्वक कठिनाइयों तथा प्रतिकूलताओं का वरण करते हैं। उन्हें अभाव और असहयोग भी सहने पड़ते हैं। इसी को तप-त्याग कहते हैं। यही अध्यात्म क्षेत्र का शौर्य साहस है। बीज के स्थूलांश गलने पर ही उसे विशाल वृक्ष बनने का अवसर मिलता है, जो इस तथ्य को जानते हैं, वे मूल्य देकर विभूतियाँ खरीदने से हिचकते नहीं। तप-तितीक्षा से ब्रह्मवर्चस प्राप्त करने का रहस्य सर्वविदित है॥ ३३-३८ ॥

जिह्वाचंचलताऽलस्यं मदसेवनकामना ।
उच्छृंखलत्व-कामित्वेऽनियन्त्रित्वं तथैव च॥ ३९ ॥
उद्दंडताऽव्यवस्थापव्ययः संकीर्णता स्वता ।
मालिन्यादीनि दृश्यंते दुष्प्रवृत्तिषु सर्वदा ॥ ४० ॥
मदस्तरेण तिष्ठंति सम्पदां जीवनस्य च।
घुणवन्नाशयन्त्यन्त उद्धतानि च तान्यलम् ॥ ४१ ॥
सापराधानि रूपाणि लभंते नाशकानि च।
तीव्रा आगस्करा मंदा दुर्गुणा दुष्प्रवृत्तय:॥ ४२ ॥
त्याज्यास्ता लघुरूपाश्च क्षणाद् वृद्धिंप्रयान्त्यपि।
स्फुलिंगः कालमासाद्य दावाग्निरिव नाशकः॥ ४३ ॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु रोगा इव भयानकाः।
संकटोत्पादिका नूनं मन्यतां तु विभीषिका॥ ४४ ॥

नोपेक्ष्या जातमात्राणां विनाशः क्रियतां लघु।
वृद्धाः सुदृढमूलाः स्युश्छिन्ना रोहंति ताः पुनः ॥ ४५ ॥

टीका—दुष्प्रवृत्तियों में चटोरापन, नशे में दुर्व्यसन, कामुक चिंतन, आलस्य-प्रमाद, अनियमितता, उच्छृंखलता, उद्दंड उत्तेजना, अपव्यय, अव्यवस्था, मलिनता, संकीर्ण स्वार्थपरता आदि प्रमुख मानी जाती हैं। ये मदस्तर की रहती हैं तो जीवन संपदा को घुन की तरह खोखला करती रहती हैं। जब उद्धत हो जाती हैं तो अपराधों के रूप में विकृत-विनाशकारी रूप धारण करती हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ दुर्गुणों के रूप में मंद हों या अपराधों के रूप में तीव्र, दोनों ही भयावह और त्याज्य हैं। वे प्रारंभ में छोटी भले ही दीखें, पर उन्हें बढ़ते देर नहीं लगती। छोटी चिनगारी अवसर पाने पर दावानल बनती, सर्वनाश करती है। दुष्प्रवृत्तियाँ भी बीमारियों की तरह भयानक संकट उत्पन्न करने वाली विभीषिकाएँ ही हैं। इसलिए उनकी उपेक्षा न की जाए। उत्पन्न होते ही उन्मूलन किया जाए अन्यथा बढ़ने पर जड़ें गहरी चली जाती हैं और काटने पर भी फिर उग पड़ने की विपत्ति सामने आती है ॥ ३९-४५ ॥

स्वभावे दुर्गुणा एवं संति चेत्संस्थिता मुने।
तेषां हानिषु सर्वैस्तु विचारः कार्य एव हि ॥ ४६ ॥
चिन्त्यान्येवं विधान्यत्र सदोदाहरणान्यपि।
दुष्प्रवृत्युद्भवा यैः स्युः परिणामाः स्मृता हि नः ॥ ४७ ॥
एवं-विधश्च तर्काणां तथ्यानामपि संग्रहः।
कर्त्तव्यो दुर्गुणा येन स्युरस्त्रेण पराजिताः ॥ ४८ ॥
एकदैव न चेत्त्याज्या दुर्गुणाः स्युस्तदा शनैः।
मात्राणामूनया शक्यस्तेषां नाश-दिशोदयः ॥ ४९ ॥

यो मनस्वी तपस्वी स सहसैकपदे तु तान्।
संकल्पशक्तितैक्ष्ण्याद्धि विदधाति तिरस्कृतान्॥ ५० ॥

टीका—हे मुनिवर ! इस प्रकार के दुर्गुण यदि स्वभाव में सम्मिलित हों तो उनकी हानियों पर विचार करना चाहिए। ऐसे उदाहरण चिंतन में लाने चाहिए, जिनसे दुष्प्रवृत्तियों के दुष्परिणामों का स्मरण बना रहे। ऐसे तर्क और तथ्य संग्रह कर रखने चाहिए, जिन्हें दुर्गुणों को परास्त करने में शस्त्र की तरह प्रयोग किया जा सके। दुर्गुणों को एक बारगी छोड़ सकना संभव न हो तो उनकी मात्रा घटाते हुए भी क्रमशः समाप्त करने की दिशा में बढ़ा जा सकता है। तपस्वी-मनस्वी तो संकल्पशक्ति की प्रखरता के सहारे एक बार में ही उनका तिरस्कार, बहिष्कार कर सकते हैं॥ ४६-५० ॥

श्रमशीलत्व-शालीनत्वे तथा सहकारिता।
मितव्ययत्वसंघर्ष-शीलते सत्प्रवृत्तिषु ॥ ५१ ॥
जीवनव्यवहारे तु योक्तुं युक्ततरं ध्रुवम्।
पञ्चशीलसुशब्देन स्मृतमेतन्मनीषिभिः ॥ ५२ ॥
गजसाहस्रशक्त्या स शीलभावो निरूप्यते ।
ईदृशा न परास्ताः स्युर्नता वाग्रे नृणां नराः॥ ५३ ॥
कार्याणि यानि गृह्णन्ति सफलाः संति तेषु ते।
परिस्थित्यानुकूल्येन व्यवहारेण जीविनः॥ ५४ ॥

टीका—सत्प्रवृत्तियों में श्रमशीलता, मितव्ययिता, शालीनता, सहकारिता, संघर्षशीलता को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करना बुद्धिमत्तापूर्ण है। इन्हें पंचशील कहते हैं। शील में हजार हाथी के बराबर बल माना गया है। ऐसे लोग न किसी के सामने झुकते हैं, न परास्त होते हैं। जिस काम में हाथ डालते हैं, उसी में सफल होकर

रहते हैं। परिस्थितियों के साथ तालमेल बैठाना उनके जीवन का व्यावहारिक गुण है॥ ५१-५४॥

नियोजितेन ये मर्त्याः क्रमेण श्रमसंरताः।
न श्लथास्ते परं पुष्टाः प्रखराः सर्वतोदिशः॥ ५५॥
स्वीकृतं कर्मपूर्णेन श्रमेणोत्साहपूर्वकम् ।
स्फूर्त्या कर्त्तव्यमेवाथ मनोयोगेन सर्वदा॥ ५६॥
कार्यस्तरं प्रतिष्ठां तां मत्त्वा चैवानुसञ्चरेत्।
चातुर्येण समग्रेण कार्यं कर्मेत्थमेव यत्॥ ५७॥
इष्टे सफलताऽवाप्तिर्यशस्वित्वाप्तिरप्यलम्।
क्रियेतात्र च यत्कर्म सत्यं तत्सुन्दरं शिवम्॥ ५८॥
दुष्प्रवृत्तिप्रदं कर्म न कार्यमपि लाभदम् ।
सत्यता व्यवहारे स्यादास्था कर्त्तव्यकर्मणि॥ ५९॥
केचिद्दुष्कर्म कृत्वापि साफल्यं यांति चेन्नहि।
नास्माकमनुकार्यास्ते श्रेष्ठं स्वल्पं वरं भवेत्॥ ६०॥
सुसंस्कारित्व भावो हि चिन्तने सभ्यताऽथ च।
व्यवहारे यथा वृद्धिस्तथा स्याच्च महत्त्वगा॥ ६१॥

टीका—सुनियोजित क्रम से श्रमरत रहने से कोई थकता नहीं, वरन हर दृष्टि से प्रखर एवं परिपुष्ट बनता है। हाथ में लिए हुए काम को परिपूर्ण श्रम, स्फूर्ति, उत्साह और मनोयोग के साथ किया जाए। काम के स्तर को प्रतिष्ठा मानकर चला जाए। इस प्रकार समग्र कौशल के साथ कार्य किया जाए तो अभीष्ट सफलता भी मिलती है और कर्त्ता को यशस्वी बनने का अवसर भी मिलता है। जो भी काम किया जाए, वह आदर्शों की कसौटी पर खरा और लोकोपयोगी होना चाहिए। दुष्प्रवृत्ति बढ़ाने वाला कोई काम न किया जाए, भले ही

उसमें कितना ही लाभ क्यों न होता हो। व्यवहार में सचाई और ईमानदारी जुड़ी रहनी चाहिए। दूसरे दुष्कर्म करके सफलता पाते हैं तो अपने को उनका अनुकरण करने की क्या आवश्यकता जो किया जाए उत्कृष्टतम किया जाए भले ही थोड़ा क्यों न हो, चिंतन में सुसंस्कारिता और व्यवहार में सभ्यता की मात्रा जितनी अधिक होगी उसी अनुपात से गरिमा में वृद्धि होगी॥ ५५-६१ ॥

प्रतिकूलस्थितौ नित्यमानुकूल्यस्य मार्गणम्।
सर्वस्थितिस्थिरत्त्वं च धैर्यसाहस-शालिता॥ ६२ ॥
लोभापातत्वमुच्चत्वं मानसं सद्भविष्यतः ।
आशाया अपरित्यागश्चित्तस्यापि प्रसन्नता॥ ६३ ॥
उपायमार्गणं चिन्तास्थाने च नान्यसंश्रितः।
आत्मावलंबनेनाथ पादन्यासः सुयोजितः ॥ ६४॥
लब्धसंतोष-भावश्चाप्यधिकं प्राप्तुमुत्सुकः।
गुणास्त्वेवं विधाह्येते यानाश्रित्य नराः सदा॥ ६५ ॥
स्थितिष्वपि तु हेयासु स्वल्पसाधन-संयुताः।
प्रगतेः पथि नित्यं ते चलितुं प्रभवन्त्यलम् ॥ ६६ ॥

टीका—प्रतिकूलता में अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए मार्ग खोजते रहना, किसी भी स्थिति में असंतुलित न होना, धैर्य और साहस को हर हालत में बनाए रहना, प्रलोभनों में न फिसलना, मनोबल न गिरने देना, उज्ज्वल भविष्य की आशा न छोड़ना, चित्त को प्रसन्न बनाए रहना, चिंता करने के स्थान पर उपाय खोजना, दूसरों के सहयोग-समर्थन पर आश्रित न रहकर आत्मावलंबन के सहारे कदम बढ़ाना, जो है, उसमें संतोष करना तथा अधिक पाने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न करना ऐसे सद्गुण हैं, जिनके सहारे हेय

परिस्थितियों एवं स्वल्प साधनों के रहते हुए भी प्रगति-पथ पर निरंतर अग्रसर रहा जा सकता है ॥ ६२-६६ ॥

कालः सर्वोत्तमा संपत्तस्य चांशोपयोगिता।
सत्प्रयोजनसिद्ध्यर्थं कर्त्तव्या सन्ततं मुने॥ ६७॥
कालं विभज्य कार्यार्थं पालनं तस्य नित्यशः।
अस्तव्यस्तनरेऽभ्यस्ते संयता सफला बहु॥ ६८॥
काल साधनया नूनं विना कश्चिद् भवेन्नरः।
महाकालदयायास्तु नाधिकारी क्वचिन्मुने॥ ६९॥

टीका—समय को सर्वोपरि संपदा माना जाए। उसके एक-एक क्षण का सत्प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जाए। प्रस्तुत कार्यों के लिए समय विभाजन करके जो इस निर्धारण का तत्परतापूर्वक पालन करते हैं, वे नियमितता के सहारे अस्त-व्यस्त लोगों की तुलना में अनेक गुनी सफलताएँ पाते हैं। हे तात ! काल-साधना किए बिना कोई, महाकाल की अनुकंपा का अधिकारी नहीं बन सकता॥ ६७-६९ ॥

संपन्नतोपमायां तु प्रामाण्यं श्लाह्यतेतराम्।
ऋषे! एतेभ्य उत्साहः सर्वेषां मनसि स्थितः॥ ७०॥
परं मार्गे तु कष्टानि यान्यायान्ति पदे पदे।
प्रवृत्तिः साधनायां न जायते तद्भयान्मुने॥ ७१॥
तपस्वि जीवनात् कष्ट-तितिक्षा वर्धते भृशम्।
अतएवोक्तमेतद् यद् योगो नैव तपो विना॥ ७२॥

टीका—संपन्नता की तुलना में प्रामाणिकता की गरिमा कहीं अधिक है। हे ऋषिवर ! इन सबके लिए मनुष्य के मन में उमंग तो रहती है, पर मार्ग में आने वाले कष्टों के भय से साधना की ओर प्रवृत्ति हो नहीं पाती। तपस्वी जीवन से कष्ट सहने की क्षमता बढ़ती है। इसीलिए कहा गया है कि तप के बगैर योग नहीं सधता॥ ७०-७२॥

व्यवस्था बुद्धिमाश्रित्य स्वल्पैरपि च साधनैः ।
प्रयोजनानि पूर्याणि बृहन्त्यपि न नाञ्जसा ॥ ७३ ॥
सावधानत्व-भावस्य परीक्षा कौशलस्य च।
निकषे हि भवत्यस्मिन् कलात्वं सुव्यवस्थितिः ॥ ७४ ॥
अस्तव्यस्तत्व भावस्तु कुरूपत्वस्य बोधकः।
यद्दृष्ट्वा व्यक्तिमानस्य हेयत्वं तु प्रतीयते ॥ ७५ ॥
मनसः कर्मणोऽथापि वचनस्य गभीरता।
शालीनत्वं व्यवस्था च निकृष्टोत्कृष्टबोधकाः ॥ ७६ ॥

टीका—व्यवस्था बुद्धि के सहारे स्वल्प साधनों से भी बड़े प्रयोजन पूरे किए जा सकते हैं। जागरूकता और कौशल की परीक्षा इसी कसौटी पर होती है। सुव्यवस्था ही सच्ची कलाकारिता है। अस्तव्यस्तता ही कुरूपता है, उसे देखकर व्यक्ति के स्तर का घटियापन प्रतीत होता है। मन, कर्म और वचन की गंभीरता, सुव्यवस्था और शालीनता को देखकर ही किसी के स्तर की श्रेष्ठता-निकृष्टता का भान होता है ॥ ७३-७६ ॥

न्यायाप्ताजीविकायास्तु वर्धने गौरवं वरे।
अर्जितं विनियोक्तव्यं प्रज्ञा-सदुपयोगके ॥ ७७ ॥
श्रेयः पथस्य ये संति साधकास्ते प्रदर्शने।
स्वेभ्योऽतिरिक्त वित्तस्य सञ्चये स्युर्गतैषणाः ॥ ७८ ॥

टीका—न्यायोपार्जित आजीविका बढ़ाने में गौरव है, किंतु बुद्धिमानी इस बात में है कि उपार्जन का एक-एक कण मात्र श्रेष्ठतम सदुपयोग में ही नियोजित होता रहे। श्रेयपथ के साधकों को चाहिए कि आडंबरों में खरच करने अथवा मोहवश अपनों के लिए अतिरिक्त धन छोड़ जाने के मोह से बचें ॥ ७७-७८ ॥

सत्प्रवृत्युदयायास्ते स्नेह आवश्यको यथा।
दुष्प्रवृत्तिं निरोद्धुं प्रखरताऽपेक्ष्यते तथा॥७९॥
अनर्हेण ममत्वेन विकारो जायते तथा।
सुसंस्कारधिया न दुर्व्यवहारोऽपि चेष्टदः॥८०॥
स्नेहसंस्कारहेतोर्यः व्यवहारः स सर्वदा।
संयतश्च विवेकेन युक्तः कार्यो नरैर्मुने॥८१॥
इदं सन्तुलनं लोकजीवनस्यास्ति निश्चितम् ।
श्रेष्ठाऽथ सार्थकी चापि साधना शास्त्रसम्मता॥८२॥
चिन्तनस्य चरित्रस्य दृष्ट्वा व्यवहृतेस्तथा।
एतस्यां साधनायां स्वं पक्वं संसाधयेत्सदा ॥८३॥
मार्गेऽस्मिन् योऽभियात्यग्रे यावत्तस्यानुपातिकम्।
गौरवं वैभवं चापि लभते मंगलोन्मुखम् ॥८४॥

टीका—हे साधको! सत्प्रवृत्ति उभारने के लिए स्नेह तथा दुष्प्रवृत्ति निरोध के लिए प्रखरता की आवश्यकता है। अनुचित प्यार से बिगाड़ होता है और सुधार के नाम पर किया गया दुर्व्यवहार भी अभीष्ट उद्देश्य पूरे नहीं करता। प्यार और सुधार के निमित्त किए जाने वाले व्यवहार में विवेक और संतुलन बनाकर रखा जाए। यह संतुलन लोक जीवन की श्रेष्ठ और सार्थक साधना है, साथ ही शास्त्र सम्मत भी। चिंतन, चरित्र और व्यवहार की दृष्टि से अपने आपको इस साधना में खरा सिद्ध करने की हर किसी को चेष्टा करनी चाहिए। इस मार्ग पर जो जितना आगे बढ़ सकेगा उसे उसी अनुपात में मंगलमय गौरव एवं वैभव की प्राप्ति होगी॥७९-८४॥

साधनास्ता व्यक्तिगामिस्तैररभि-नियोजयेत्।
पारिवारिकगैश्चापि मुने सामाजिकैः स्तरैः॥८५॥

संघस्तरेण चैतानि योक्तुं वृत्तिरपेक्ष्यते ।
सहयोगस्य सर्वेषां योगपादस्तु यः स्मृतः ॥ ८६ ॥
यो न दातुं न वा प्राप्तुं सहयोगं नरोऽर्हति ।
असाध्यस्तस्य योगोऽस्ति निश्चितं ज्ञायतां मुने ॥ ८७ ॥

टीका—इन साधनाओं को व्यक्तिगत स्तर पर भी चलाना चाहिए तथा पारिवारिक, सामाजिक स्तर पर भी। सामूहिक स्तर पर इन्हें चलाने के लिए सहयोग वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। हे जिज्ञासुओ! सहयोग को योग का ही प्राथमिक चरण माना गया है। जिसे सहयोग पाना या देना कठिन लगता है, उसके लिए योग भी असाध्य है, हे मुनिवर! यह निश्चित समझ लें॥ ८५-८७॥

महर्षिर्याज्ञवल्क्यः स चर्चां कुर्वन् समाप्तिगाम् ।
उवाच साधकाः नृणां मार्गमार्गणतंत्रता ॥ ८८ ॥
सैवं तपोयोगयोश्च साधना वरणाय हि ।
प्रयोक्तव्येत्थमर्हेत्स आत्मकल्याण हेतवे ॥ ८९ ॥
लोकस्यापि हितायेशानुदानानि बलादिव ।
आकर्षितानि कर्तुं हि याति चादर्शतां ततः ॥ ९० ॥
सत्प्रवृत्तिरुपादाय सुखी चापि समुन्नतः ।
भवेद् यात्यध एवायं दुष्प्रवृत्तिरतो यदि ॥ ९१ ॥
जगदेतत्समाकीर्णमशुभैश्च शुभैरपि ।
तत्त्वैर्योयस्य मार्गस्य पथिकस्तत्र तत्र ते ॥ ९२ ॥
सहायकाः प्रकृत्यैव समाकृष्टाः सदाञ्जसा ।
मिलन्तीत्थं नरा यांति सीमामुत्थानपातजाम् ॥ ९३ ॥

टीका—महर्षि याज्ञवल्क्य ने चर्चा का समापन करते हुए कहा हे—साधक श्रेष्ठ ! मनुष्य को अपने मार्ग निर्धारण की जो स्वतंत्रता प्राप्त है,

उसे इस प्रकार की तप और योग-साधना के वरण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। ऐसा करके वह अपने आत्मकल्याण और लोकहित के लिए ईश्वरीय अनुदानों को बलात् आकर्षित कर सकता है, तदंतर जगत का आदर्श बन जाता है। सत्प्रवृत्तियाँ अपनाकर वह सुखी समुन्नत बन सकता है और दुष्प्रवृत्तियों की दिशा में चल पड़े तो वह अपने अधःपतन का मार्ग भी स्वयं ही प्रशस्त करता है। यह संसार भले-बुरे तत्त्वों से भरा-पूरा है। जो जिधर चलता है, उसे उस मार्ग में सहायता करने वाले भी स्वभावगत आकर्षण से प्रेरित होकर अनायास ही मिलते रहते हैं और मनुष्य उत्थान-पतन की पराकाष्ठा तक जा सकता है॥ ८८-९३ ॥

तृतीयस्य दिनस्येदं पीयूषपरिवर्षणम् ।
यत्तेन सत्रसंस्थास्ते तोषं जिज्ञासवो ययुः ॥ ९४ ॥
भ्रांतिनाशे रहोज्ञाने मनः स्वास्थ्यं कियद्भवेत् ।
इति ज्ञातं समैस्तत्र प्रत्यक्षज्ञानसत्रके ॥ ९५ ॥
सायं सन्ध्यां विलोक्याथ समाप्तिं सत्रमभ्यगात् ।
जिज्ञासवो नमंतश्च कुटीराभिमुखा ययुः ॥ ९६ ॥

टीका—तीसरे दिन की इस अमृतवर्षा से सत्र में सम्मिलित सभी जिज्ञासुओं को बहुत संतोष मिला। भ्रांतियाँ मिटने और तथ्यों की यथार्थता विदित होने पर मन कितना हलका और प्रसन्न होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव उस ज्ञानसत्र में उन सभी ने किया। सायंकाल का उपासनाकाल निकट आया देखकर नियत समय पर सत्र विसर्जित हुआ और जिज्ञासु वर्ग अभिवंदन प्रक्रिया को पूर्ण करते हुए अपने-अपने कुटीर पक्षों की ओर चला गया॥ ९४-९६ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, महर्षि जरत्कारु-याज्ञवल्क्य संवादे 'व्यावहारिक तपोयोग' इति प्रकरणो नाम

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

आत्मबोध प्रकरणम्

यथाक्रमं समारब्धं ज्ञानसत्रं समागताः ।
समये नियतस्थाने तत्त्वार्थमृषयः समे ॥ १ ॥
चतुर्थे दिवसे तत्र प्रज्ञासत्रस्य सो अंगिराः ।
ब्रह्मविद्यारुचिर्नम्रः सत्राध्यक्षमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

टीका—यथाक्रम ज्ञानसत्र आरंभ हुआ। ऋषि-मनीषिगण यथासमय नियत स्थान पर तत्त्वचर्चा के लिए एकत्रित हुए। प्रज्ञासत्र के चौथे दिन ब्रह्मविद्या में अगाध अभिरुचि रखने वाले अंगिरा ने सत्राध्यक्ष से विनयावनत् हो पूछा— ॥ १-२ ॥

अंगिरा उवाच—

मान्या विगतकाले यदमृतं प्राप्तुमुत्सुकैः ।
अस्माभिः कृतकृत्याश्च वयं शंकाकुलाः पुनः ॥ ३ ॥
ज्ञानमात्रेण चैतेषां लाभान् मर्त्योऽतिदुर्लभान् ।
प्राप्तुमर्हति किं ? ज्ञात्वा नो पथिश्रेयसा चलेत् ॥ ४ ॥
तथ्यं किञ्चिदविज्ञातं मन्ये तत्रावशिष्यते ।
यतो नैतद् भवत्येषां ग्रंथिर्नश्छिद्यतां मुने ॥ ५ ॥

टीका—अंगिरा बोले—मान्यवर! आपने पिछले दिनों जो अमृत पान कराया, उससे हम कृतकृत्य हुए, लेकिन एक शंका हमें अभी भी व्यग्र कर रही है कि क्या यह सब जान लेने मात्र से ही मनुष्य उन दुर्लभ लाभों को पा सकेगा? देखा यह जाता है कि जानकार भी मनुष्य श्रेय-पथ पर गतिशील नहीं हो पाता। लगता है कोई ऐसा तथ्य अविज्ञात रह गया है, जिसके कारण वह सुयोग नहीं बन पाता। कृपया इस उलझन को और भी सुलझाएँ॥ ३-५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

गहनं मार्गणं ये तु भवतामिव कुर्वते।
सत्यमुच्चस्तरं ब्रह्मन् सत्यं द्रष्टुमीश्वराः ॥ ६ ॥
ब्रह्मवेतृत्वलाभं ते पूर्णतां लक्ष्यगां तथा।
प्राप्नुवंति न चान्येऽत्र सफलाः संभवंति हि ॥ ७ ॥

टीका—तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्य जी बोले—ब्रह्मविज्ञान में अनुसंधानरत हे ब्रह्मचारी! आप जैसी गहरी खोज करने वाले ही उच्चस्तरीय सत्य का दर्शन कर पाते हैं। उन्हें ही ब्रह्मवेत्ता होने का लाभ मिलता है और वे ही पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करते हैं, अन्य लोग इसमें सफल नहीं हो सकते ॥ ६-७ ॥

महत्ता ज्ञानजा तात ! शास्त्रैः सत्पुरुषैरपि।
एकस्वरेण गीतोक्ता विश्वश्रेष्ठोपलब्धिका ॥ ८ ॥
ज्ञानं तत्केवलं नैव ज्ञानमात्रे तु सीमितम्।
ज्ञातं बोधस्तरं यावद् विकास्यं ज्ञानमुच्यते ॥ ९ ॥
प्रशंसितमिदं सर्वैर्मुक्तकंठेन निश्चितम् ।
बोधस्य विविधा धारा विज्ञानेनान्वयंति तत् ॥ १० ॥
अंतःक्षेत्रविशिष्टानि ज्ञानान्येव मतानि तु।
स्वस्वक्षेत्रस्य तान्यत्र विज्ञानानि महामुने ॥ ११ ॥
एतादृशस्य ज्ञानस्योपार्जनं सौभगं नृणाम्।
पुरुषार्थः परः प्रोक्तो जगन्मंगलकारकः ॥ १२ ॥
प्राप्तुं ज्ञानामृतं सर्वे भवंतो यादृशं सदा।
तत्त्वचर्चां विचाराणां मन्थनं कुर्वते तथा ॥ १३ ॥
ताभ्यां तथोपलब्धींश्च करिष्यन्त्यर्जिता यथा।
आदिकाले समुद्रस्य मन्थनेनार्जिताः सुरैः ॥ १४ ॥

टीका—हे तात् ! ज्ञान की महत्ता शास्त्रों और सत्पुरुषों ने एक स्वर से गाई है, उसे विश्व की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कहा है, किंतु वह ज्ञानमात्र जानकारी तक ही सीमित नहीं है। जानकारी को बोध के स्तर तक विकसित किया जाए तभी वह ज्ञान बनता है, जिसकी प्रशस्ति मुक्तकंठ से की जाती रही है। बोध की अनेक धाराएँ हैं, जो मात्र जानकारी को उनसे संबंधित विज्ञान से जोड़ देती हैं। अंतःक्षेत्र के विशिष्ट ज्ञान अपने-अपने स्तर के विज्ञान कहे जाते हैं—ऐसा ज्ञान उपार्जन ही मनुष्य का सर्वोपरि पुरुषार्थ और सौभाग्य है, जो जगत का कल्याण करने वाला है। आप लोग ज्ञानरूपी अमृतप्राप्ति के लिए जिस प्रकार तत्त्वचर्चा और विचार-मंथन कर रहे हैं, उससे वैसी ही उपलब्धियाँ अर्जित करेंगे जैसी कि आदिकाल में देवताओं द्वारा समुद्र-मंथन से उपार्जित की गई थीं॥ ८-१४॥

जिज्ञासवः समस्ता हे अंगिरः प्रमुखा इह।
स्थूलः परिचयो नृणां शरीरेणैव प्राप्यते॥ १५॥
दृश्यत्वान्नामरूपाभ्यां युक्तः कायोऽभिमन्यते।
कर्मकर्ता तदाश्रित्य दंड्यते पूज्यतेऽपि च॥ १६॥
नेयं श्रेष्ठा मता लोकमान्यता बुधसत्तमैः।
करणं तु शरीरं हि मनः स्वामिनिदेशगम्॥ १७॥
मनुष्यत्वस्य रूपं तत्सत्यं मानवचिंतने ।
चेतनायां च प्रच्छन्नं तस्यैव स्तर एष च॥ १८॥
शोभनोऽशोभनः स्वस्य प्रकृत्याऽऽकांक्षयापि च।
सन्मार्गे वा कुमार्गे वा चलितुं प्रेरयत्यलम्॥ १९॥
अत एव विनिर्मेयश्चेतनायाः स्तरः सदा।
ऊर्ध्वगाः कर्मणीहस्यान्नैकृष्ट्यं संसृतेः स्तरात्॥ २०॥

टीका—हे अंगिरा सहित समस्त जिज्ञासुओ! मनुष्य का स्थूल परिचय उसके शरीर से मिलता है। दृश्यमान होने के कारण नामरूपधारी काया ही कर्मकर्त्ता मानी जाती है और इसी आधार पर उसे दंड-पुरस्कार की उपलब्धि भी होती है, किंतु विद्वानों का मत है कि यह लोकमान्यता सही नहीं है। वस्तुतः शरीर उपकरण मात्र है, उसे वाहन की तरह मनरूपी स्वामी का निर्देश पालना पड़ता है। मानवी सत्ता का वास्तविक रूप तो उसकी चिंतन-चेतना में छिपा होता है। उसी का भला-बुरा स्तर अपनी आदतों और आकांक्षाओं के अनुरूप सन्मार्ग-कुमार्ग पर चलने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। इसी कारण चेतना के स्तर को ही ऊर्ध्वगामी बनाया जाना चाहिए। ऐसा न बन पड़े तो कर्म में विश्व-प्रवाह के अनुरूप निकृष्टता ही बनी रहेगी॥ १५-२०॥

आदर्शवादिनी शिक्षा यांति नान्तर्यदि स्वयम्।
व्यवहारे न साऽऽ याति श्वासवत्क्रियते बहिः॥ २१॥
बाह्या ये ह्युपदेशास्ते ज्ञानमात्रं ददत्यदः।
निर्भरं मानवे कं स उपदेशं समाश्रयेत्॥ २२॥
अन्यथा कर्तुमिच्छायाः स्तरं सहमतं मनः।
कर्तुं तदिष्यते कार्यं चेदं संभवमस्ति च॥ २३॥
चित्तोद्बोधनयोग्याभिः साधनाभिस्तपोबलैः।
पूर्णो ब्रह्मज्ञ एतद्वा प्रेरयेत्सरलं भवेत्॥ २४॥
गहनेनात्ममन्थेनाप्येतत् संभवति स्वतः।
ज्ञानस्य स्वप्रकाश्यत्वाज्ज्ञानवत्त्वमथात्मनः॥ २५॥

टीका—आदर्शवादी शिक्षण अंतराल तक न पहुँचने पर जीवन में उतर नहीं पाते और कुछ ही क्षणों में श्वास-प्रश्वास की तरह बाहर निकालकर फेंक दिए जाते हैं। बाह्य उपदेश तो मनुष्य को

जानकारी भर देते हैं। उनमें से कौन किसको, कितनी मात्रा में हृदयंगम करे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। इस इच्छा का स्तर बदलने के लिए अंतःकरण को सहमत करना पड़ता है। यह कार्य या तो अंतराल को जगाने वाली साधना-तपश्चर्या द्वारा संभव है या फिर कोई पारंगत ब्रह्मज्ञानी अपनी पुण्य-प्रेरणा देकर उस प्रयोजन को सरल बनाता है। गहन आत्ममंथन से भी यह कोई संभव हो सकता है, क्योंकि आत्मा ज्ञानवान होती है। और ज्ञान स्वप्रकाश्य भी है॥ २१-२५॥

प्रभावितं-नरं कर्तुं चत्वारो हेतवो मताः।
पूर्वसञ्चित-संस्काराः स्वाभ्यासाः स्वजनाग्रहाः॥ २६॥
समीपवर्ति यच्चैतद्वातावरणमस्ति तु।
चत्वारीमानिबध्नन्ति बन्धनेऽवाञ्छिते नरम्॥ २७॥
एतादृशा नराः संति पाषाणहृदयास्ततः।
ज्ञानशिक्षावर्षणेन नार्द्रता तत्र जायते ॥ २८॥

टीका—हे तात ! मनुष्य को प्रभावित करने वाले चार कारण हैं—पूर्व संचित संस्कार, वर्तमान में पाले गए अभ्यास, प्रियजनों का आग्रह और समीपवर्ती वातावरण। ये चारों ही मनुष्य को अवांछनीयता के बंधन में जकड़ लेते हैं। ऐसे मनुष्य उस चट्टान जैसे कठोर हो जाते हैं, जिस पर सद्ज्ञान शिक्षण की वर्षा से भी कोई नमी नहीं आती॥ २६-२८॥

चक्रव्यूहाद् बहिर्गन्तुं ज्ञानलोकं च दीपितुम्।
श्रेयोऽर्थी विविधानत्र विधीन्नूनं समाश्रयेत्॥ २९॥
अभ्यस्ताया वृतेर्गत्वा प्रेरणाप्रदसंवृतौ ।
निवासः कार्य एतस्मिन् संगतिः प्रभवत्यलम्॥ ३०॥

वातावृतिर्न चायाति परिवर्तनतां यदि।
कठिनं दृश्यते दृष्टौ स्वभावे परिवर्तनम्॥ ३१ ॥
तीर्थसेवनधर्मानुष्ठानादीन्यत एव तु।
कुर्वंति स्म, लभंते च प्राणतां महतां ततः॥ ३२ ॥
सत्संगति-समग्रत्वं परामर्शेन वा पुनः।
प्रवचनैर्न परं सिद्धयेत तत्ततत्वज्ञ सिन्निधौ ॥ ३३ ॥

टीका—इस चक्रव्यूह से निकलने और आत्मज्ञान का आलोक जगाने के लिए श्रेयार्थी को कई उपाय अपनाने होते हैं। अभ्यस्त वातावरण से हटकर कहीं प्रेरणाप्रद वातावरण में निवास करना पड़ता है। संगति का प्रभाव पड़ता ही है। वातावरण न बदले तो दृष्टिकोण और स्वभाव का बदलना कठिन है। तीर्थसेवन जैसे धर्मानुष्ठान इसी उद्देश्य के लिए किए जाते हैं। महामानवों के सान्निध्य से उनकी प्राण-ऊर्जा का लाभ मिलता है। सत्संग की समग्रता प्रवचन-परामर्श से नहीं, घनिष्ठ सान्निध्य से उपलब्ध होती है॥ २९-३३ ॥

आत्मनश्च शरीरस्य स्वस्व पक्षौ तु लाभकौ।
आत्मने श्रेयसोदातृकार्यं निर्धारणं सदा॥ ३४ ॥
शरीरं साधनं विश्वं क्रीडाक्षेत्रं समर्थितुम्।
आत्मानं स्व गरिम्ण्येव योक्तुं यत्नो रहो भवेत्॥ ३५ ॥
शरीरसुख-संसारविनोद द्वयतोऽपि च ।
आत्मकल्याणसंबद्धा विभूतिर्बहुमन्यताम् ॥ ३६ ॥

टीका—शरीर और आत्मा के अपने-अपने पक्ष और अपने-अपने लाभ हैं। आत्मा को श्रेय प्रदान करने वाला निर्धारण ही करना चाहिए। शरीर को उपकरण और संसार को क्रीड़ाक्षेत्र समझने की

आस्था उगाने और आत्मा को उसकी गरिमा में अपने अस्तित्व की अनुभूति करने का निरंतर एकांत अभ्यास करना चाहिए। शरीर सुख और संसार विनोद की तुलना में आत्मकल्याण के साथ जुड़ी हुई महान विभूतियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए॥ ३४-३६॥

सुरदुर्लभमेतच्च जीवनं तस्य सौभगम्।
उद्देश्य चोपयोगं च सन्ततं चिन्तयेन्नरः ॥ ३७॥
साहसं चार्जितव्यं तद् येन मूढाश्च मान्यताः।
त्यक्त्वाऽसीम्नि च संबुद्धं स्वातन्त्र्यं प्राप्यतां मुने॥ ३८॥
पुरुषार्थः परश्चैष यः स्वरूपं परं स्वकम्।
यद्रूपेऽनुभवेद्यावच्छ्रेष्ठां दृष्टिं तथा भजेत् ॥ ३९॥
अस्मिन् लोकेस्थितोऽप्येष परलोकस्य साधनाम्।
करोति साधनैर्लब्धैश्चात्मभूतिः समर्जयन्॥ ४०॥
पूर्णतां लक्ष्यगां याति कर्त्तव्या अस्य कारणात्।
आत्मबोधस्य चैकांतसाधनाः साधकैः सदा॥ ४१॥
अभ्यस्तां प्रकृतिं भिन्नां कर्तुं कार्यं तु साहसम्।
प्रवाहाद् वैपरीत्ये च यातुं मत्स्यवद् यथा॥ ४२॥

टीका—सुरदुर्लभ जीवन सौभाग्य के स्वरूप, उद्देश्य और सदुपयोग पर निरंतर विचार करना चाहिए, साथ ही ऐसा साहस जुटाना चाहिए, जिससे कुसंस्कारी मान्यताओं के मायाजाल को तोड़कर असीम के साथ जुड़ने की स्वतंत्रता मिल सके, यही परम पुरुषार्थ है। जिसे अपने वास्तविक स्वरूप की जितनी सघन अनुभूति होती है, वह उसी अनुपात से उत्कृष्ट दृष्टिकोण अपनाता है। इस लोक में रहकर परलोक की तैयारी करता है। उपलब्ध साधनों के सहारे आत्मिक विभूतियों का संपादन करते हुए वह पूर्णता के लक्ष्य तक

पहुँचता है। इसके लिए आत्मबोध की एकांत चिंतन-साधना करनी पड़ती है। अभ्यस्त ढर्रे को उलटने के लिए प्रवाह से विपरीत चल सकने का मछली जैसा साहस करना पड़ता है॥ ३७-४२॥

संकीर्णस्वार्थतायाश्च नाशकं महदाहृतम्।
उदात्तं दृष्टिकोणं तं स्वीकर्त्तुं यत्नमाचरेत्॥ ४३॥
आत्मकल्याणमेवापि सन्तोषं परमात्मनः।
श्रेयो ददति ये ते नु वासनासक्तिकर्दमे॥ ४४॥
कीटव्याकुलतायास्तु भगवत्प्राप्तिजं मुने।
मकरन्दं पिबन्तं तं मन्यन्ते मधुपं बहु॥ ४५॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता के विचारों को काटने वाले महामानवों द्वारा अपनाए जाने वाले उदात्त दृष्टिकोण को समझने और अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मकल्याण और परमात्मा के संतोष को जो महत्त्व देते हैं, वे वासना, तृष्णा की सड़ी कीचड़ में कृमि-कीटकों की तरह कुलबुलाते रहने की अपेक्षा सुसंस्कारी भौंरे की तरह परमात्म प्राप्ति का मकरंद पान करते हैं॥ ४३-४५॥

वसुधैव कुटुम्बं च नीतिरेव च धुर्यताम्।
गता धर्मस्य चक्रस्याध्यात्मनश्चापि निश्चितम्॥ ४६॥
आत्मानं ये तु सर्वेषु भूतेष्वात्मनि तान्यपि।
पश्यंति प्रथितास्ते तु वस्तुतस्तत्त्वदर्शिनः॥ ४७॥
विराड्विश्वे तदात्मत्वं यांति ये ब्रह्मपारगाः।
उच्यन्ते स्वार्थकार्यैर्ये परकार्याणि मानवाः॥ ४८॥
प्रियाणि मन्वते ते वै साधनैः सीमितैरपि।
प्रसन्नतां भजन्तोऽत्र जीवनं यापितुं क्षमाः॥ ४९॥

आदर्शौश्च महत्यस्ता आकांक्षा यर्हि हे मुने।
युज्यन्ते, वैभवं दर्पा उपेक्ष्यन्ते शनैः समे॥५०॥
तथ्यान्येतानि सन्त्यत्र स्वर्ग्यमन्तः प्रकुर्वते।
यानि निर्माणमेतच्च नरस्यास्ति कलाऽतिगा॥५१॥

टीका—'वसुधैव कुटुंबकम्' की नीति ही धर्म और अध्यात्मरूपी दो पहियों की मध्यवर्ती धुरी है। जो सबमें अपने को, अपने में सबको देखते हैं, वे ही तत्त्वदर्शी हैं। विश्व विराट में अपने को घुला देने वाले ही ब्रह्मपरायण कहे जाते हैं। स्वार्थ-साधना की तुलना में जिन्हें परमार्थ प्रिय लगने लगे, समझना चाहिए कि वे सीमित साधनों में प्रसन्नतापूर्वक जीवनयापन कर सकेंगे। महत्त्वाकांक्षाएँ जब आदर्शों के साथ जुड़ती हैं तो वैभव-बड़प्पन सबकी उपेक्षा होने लगती है। यही हैं—वे तथ्य जो अंतर्जगत को स्वर्गोपम बनाते हैं। यह निर्माण मनुष्य का सर्वोपरि कला-कौशल है॥ ४६-५१ ॥

अन्तरंगं निजं यस्तु सत्संस्कार-समुज्ज्वलम्।
सज्जितं विदधात्यस्य जगद् वै नन्दनायते॥५२॥
एतादृशा नरा ये तु तेषां नृणां क्रियास्वलम्।
सत्प्रवृत्तय एतास्तु यांति दृष्टिपथं सदा ॥५३॥
कषायैः कल्मषैर्मुक्तचित्तं तद् विद्यते यदि।
बाह्योपचारजा सारहीना सद्भावना मता ॥५४॥
वात्यया मन्दयाप्येषा तृणानीव क्षणान्मुने ।
इतस्ततो व्रजन्ती न कल्याणं भजते क्वचित्॥५५॥
साधनावसराप्राप्तिवशादग्निर्विनेन्धनम् ।
इव शांता भवन्त्येता दुष्प्रवृत्तय आहताः ॥५६॥

छिन्नमूलास्तदैवैता जायन्तेऽन्तर्यदा भवेत्।
आध्यात्मिक्यास्तु दृष्टेः स आरोहोमंगलोन्मुखः ॥ ५७ ॥
भयदान् परिणामान् ये दृष्प्रवृत्युदितान् नराः।
सद्वृत्तिपरिणामाँश्च जानन्त्येतैर्विचार्यताम् ॥ ५८ ॥
कायाकल्पसमं योगं लब्धुं तद्धृदयं तथा।
परिष्कर्तुं निमित्तं तद् बाह्यस्योक्तं च वस्तुतः ॥ ५९ ॥

टीका—जिसने अपने अंतरंग को सुसंस्कारिता से सुंदर-सुसज्जित कर लिया उसे सर्वत्र नंदनवन जैसी सुविधा भरी- पूरी दृष्टिगोचर होगी। ऐसे लोगों के समस्त क्रिया-कलापों में सत्प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होंगी। अंतःकरण कषाय-कल्मषों से भरा रहे तो बाह्योपचार से उत्पन्न की गई सदाशयता खोखली होती है और वह तनिक-सी हवा चलने पर हलके तिनके की तरह कहीं-से-कहीं जा पहुँचती है तथा कल्याणयुक्त नहीं हो पाते। साधन एवं अवसर न मिलने की विवशता होने पर भी बिना ईंधन के आग बुझ जाने की तरह दुष्प्रवृत्तियाँ पीड़ित हो स्वयं शांत हो जाती हैं, पर उनकी जड़ तभी कटती है, जब अंतराल में उत्कृष्टता भरे आध्यात्मिक दृष्टिकोण का आरोपण हो। अतः जो दुष्प्रवृत्तियों के भयावह परिणामों को समझते हैं, जो सत्प्रवृत्तियों के परिणामों से परिचित हैं, वे कायाकल्प जैसे सुयोग की प्राप्ति के लिए अंतराल के परिष्कार की बात सोचें। भीतर का सुधार ही बाहरी सुधार का वास्तविक निमित्त बनता है ॥ ५२-५९ ॥

अंतर्जीवनगं यच्च परिवर्तनमद्भुतम् ।
परिष्कारश्चबाह्येऽस्मिन् जीवने प्रतिभां पराम् ॥ ६० ॥
प्राखर्यं कौशलं निष्ठां प्रतिष्ठां च विशिष्टिताम्।
संपन्नतादिलाभास्तानर्जितुं प्रभवत्यलम् ॥ ६१ ॥

जीवनस्य क्रमे बाह्ये कर्मकौशलजं बलात्।
परिवर्तनमाश्रित्योपाय आदर्शचारिता ॥ ६२ ॥
द्वितीयश्चान्तरंगं तदाविर्भूतं विधाय तु।
ज्ञानचेतनयाप्युच्चस्तरया वपुरुद्भवाः ॥ ६३ ॥
प्रवृत्तीरञ्जसा चोच्चस्तरगा भविता मुने।
उभयोः सुविधायुक्तं रुचियुक्तं स्वमाश्रयेत्॥ ६४ ॥

टीका—अंतर्जीवन का परिवर्तन-परिष्कार बाह्य जीवन में प्रतिभा, प्रखरता, कौशल, निष्ठा, विशिष्टता, संपन्नता, प्रतिष्ठा जैसे अनेकों लाभ उपार्जित करता है। बाह्य जीवनक्रम में बलपूर्वक कर्म-कौशल से परिवर्तन करके आदर्शवादी प्रक्रिया में ढल जाना एक उपाय है। दूसरा उपाय है—अंतरंग को उच्चस्तरीय ज्ञान चेतना से आविर्भूत करके शरीरगत प्रवृत्तियों को अनायास ही उच्चस्तरीय बना देना। दोनों में से जो जिसे सुविधाजनक, रुचिकर लगे उसे अपनाए॥ ६०-६४ ॥

श्रेयोमार्गस्य पान्था हे ब्रह्मविद्यासु धारणाः।
क्रियान्विता विधातुं द्वावुपायौ परिकीर्तितौ॥ ६५ ॥
ज्ञानयोगः कर्मयोगः पूर्णौ च स्वत एव यौ।
अत्रापि प्रथमं ज्ञानं द्वितीयं कर्म चादृतम् ॥ ६६ ॥
धारा भक्तेस्तृतीया सा याऽनयोश्च समन्वयात्।
जाताऽध्यात्मन एषोऽस्ति तीर्थराजस्त्रिसंगमः॥ ६७ ॥

टीका—हे श्रेयमार्ग के पथिक जनो! ब्रह्मविद्या की तात्त्विक धारणाओं को क्रियान्वित करने के ये दो उपाय-ज्ञानयोग और कर्मयोग स्वयं में पूर्ण हैं। इतने पर भी ज्ञान को प्रथम और कर्म को द्वितीय कहा गया है। तीसरी धारा भक्तियोग की है, जो इन दिनों के समन्वय से आविर्भूत होती है। अध्यात्म-क्षेत्र का तीर्थराज त्रिवेणी संगम इन तीनों धाराओं के सम्मिलन से बनता है॥ ६५-६७ ॥

भक्तेरर्थो महान् स्नेहः सर्वेष्वात्मानमात्मनि।
सर्वान् द्रष्टुं स्वतोऽवाप्तिर्भक्तेः परिणतिर्मता॥ ६८॥
संकीर्ण-स्वार्थतामुक्तिर्विराड्ब्रह्मैक्यमेव च।
समाजनिष्ठता बोधो भक्तेः परिणतिर्मता॥ ६९॥
सा निर्झरसमा नित्यं सरतीह समन्ततः।
वातावृतिश्च तेनेयं लाभमाप्नोति मुक्तिदम्॥ ७०॥
कासारयोर्द्वयोर्मध्ये जलमार्गे विनिर्मिते।
स्तरमेकमुभौ तौ तु यात एषाऽत्र संस्थितिः॥ ७१॥
भक्तिभावनयाऽऽयाति जीवस्येह तु कर्मणि।
गुणस्वभावे चेशस्योत्कृष्टतायाः समागतिः॥ ७२॥
सम्पादनं तु सर्वेषामेतेषां जीवनस्य च।
कर्मक्षेत्रे सतां संगैः स्वाध्यायैः क्रियते मुने॥ ७३॥

टीका—भक्ति का तात्पर्य है—प्यार। सबमें अपने को और अपने में सबको देखने वाली सुविस्तृत आत्मीयता सघन उपासना की ही परिणति है। संकीर्ण स्वार्थपरता के भवबंधनों से छुड़ाने और विराट ब्रह्म के साथ घुल-मिलकर समाजनिष्ठ बनने की प्रेरणा भक्तिभावना की ही परिणति है। वह निर्झर की तरह निरंतर झरती रहती है, उसका मुक्तिदायक लाभ समूचे वातावरण को मिलता है। दो तालाबों के बीच नाली बनाने पर दोनों की सतह समान हो जाती है। उसी प्रकार भक्तिभावना अपनाने पर जीव के गुण-कर्म-स्वभाव में ईश्वरीय उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश होता है। इन सभी का संपादन जीवनरूपी कर्मक्षेत्र में सत्संग, स्वाध्याय के माध्यम से किया जाता है॥ ६८-७३॥

पतनं सरलं तत्रोत्थानं च कठिनं मतम्।
सरलो व्यय उक्तो ऽत्रोपार्जनं कठिनं बुधाः॥ ७४॥

कुसंगः सरलो मृग्यः सत्संगो यत्नतो नरैः।
पक्षं सहमतं कर्तुं परं काठिन्यमापतेत् ॥ ७५ ॥
अहंत्वं सरलं नूनं महत्ता कठिना मता।
अल्पाभ्याससुसाध्यं तत्सभ्यताशिक्षणं मतम्।
सुसंस्कारित्वभावार्थं साधनां श्रमतां व्रजेत्॥ ७६ ॥
कठिनं कर्म गृह्णन्ति तत्परत्वं च संततम्।
ये स्वीकृत्य प्रकुर्वन्ति पूर्णं मान्यामनीषिणाम्॥ ७७ ॥
अंतर्महत्त्वसंपन्ना बाह्यक्षेत्रे ऽविलंबतः ।
लभंते गौरवं चान्तं परिष्कारे विनिर्मितौ॥ ७८ ॥
यथा येषां प्रवृत्तिस्ते तथा भूतिमदुच्चताम्।
देवत्वं चार्जितुं श्रेयः सौभाग्यं ते भजन्त्यलम्॥ ७९ ॥

टीका—हे मनीषियो! यह समझ लेना चाहिए कि पतन सरल है, उत्थान कठिन। व्यय सरल है, उपार्जन कठिन। कुसंग सर्वत्र बिखरा पड़ा है, सत्संग के लिए भारी खोज करनी पड़ती है और दूसरे पक्ष को कठिनाई से ही सहमत किया जाता है। बड़प्पन सरल है, महानता कठिन। सभ्यता का प्रशिक्षण तो थोड़े से अभ्यास से हो सकता है, किंतु सुसंस्कारिता संपादन के लिए तो साधना-पुरुषार्थ करना पड़ता है। जो कठिन कार्य को हाथ में लेते हैं, व उन्हें अनवरत तत्परता अपनाकर पूर्ण कर दिखाते हैं, उन्हें ही महान कहते हैं। जिनमें आंतरिक महानता है, उन्हें बाह्यक्षेत्र में गौरव गरिमा प्राप्त करते देर नहीं लगती। अंतराल के परिष्कार और निर्माण में जिनकी जितनी प्रवृत्ति होती है, उन्हें उसी अनुपात में विभूतिवान देवत्व अर्जित करने का श्रेय-सौभाग्य मिलता है ॥ ७४-७९ ॥

विद्वांसो ! वेदितव्यं च भवद्भिः साधनारतैः।
व्यक्तित्वस्यांतरंगं तं पक्षं बाह्यं समुन्नतम्॥ ८०॥
कर्तुमुच्चास्थिरादृष्टिः स्वीकार्या च तथा सदा।
आत्मबोधस्य तज्ज्योतिरुत्पाद्यं भवति ध्रुवम्॥ ८१॥
संस्कारस्यात्मनो नूनं बाह्यसिद्धिस्थितौ तथा।
अंतर्ऋद्धिस्वरूपेषु लब्धिर्भवति कीर्तिदा ॥ ८२॥
सत्प्रवृत्ति विकासस्य वर्तंते साधका इमे।
दुष्प्रवृत्ति विनाशस्य राजमार्गः सुशोभनः॥ ८३॥

टीका—हे साधनारत विद्वज्जनो! आप सबको समझना चाहिए कि व्यक्तित्व के अंतरंग और बहिरंग पक्ष को श्रेष्ठ समुन्नत बनाने के लिए उच्चस्तरीय दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है तथा अंतराल में आत्मबोध का आलोक उत्पन्न करना होता है। इस आत्मपरिष्कार की परिणति भीतरी ऋद्धियों और बाहरी सिद्धियों के रूप में उपलब्ध होती हैं सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन का यही राजमार्ग है।॥ ८०-८३॥

चतुर्थस्य दिनस्यायं प्रसंगः सत्रसंभवः।
समाप्तः पूर्ववत्तस्मिन् दिने सर्वेऽपि साधकाः॥ ८४॥
व्यवस्थामनुसृत्याथ नित्यकर्माणि तानि ते।
कर्तुं ययुर्निवासान् स्वान् प्रणमंतो महर्षयः॥ ८५॥

टीका—चौथे दिन का प्रसंग सत्र समाप्त हुआ और नित्य की तरह सभी उस दिन भी निर्धारित नियम-व्यवस्था के अनुसार शारीरिक-आध्यात्मिक नित्य कर्मों के निमित्त अभिवादन पूर्वक अपने-अपने निवास स्थानों को चले गए॥ ८४-८५॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते 'आत्मबोध' इति प्रकरणो नाम
॥ चतुर्थोऽध्यायः॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

धर्मधारणा प्रकरण

पञ्चमे दिवसे प्रज्ञासत्रस्याथ मनीषिणः।
ब्रह्मचारिगणाः पुण्ये त्रिपुरारण्यके समे॥ १॥
पूर्ववत् पुण्यवेलायां प्रभातस्य समागताः।
तत्त्वचर्चां विधातुं ते धर्मसारसमुद्भवाम्॥ २॥

टीका—पाँचवें दिन प्रज्ञासत्र के मनीषी ब्रह्मचारीगण त्रिपुरारण्यक में गत दिनों की भाँति प्रभात की पुण्यवेला में धर्म की सारभूता तत्त्वचर्चा के लिए एकत्रित हुए॥ १-२॥

ब्रह्मचारिण ऊचुः—

आयोजनेन पुण्यस्य ज्ञानसत्रस्य चास्य तु।
भवतानुगृहीताः स्म महाभाग! वयं समे॥ ३॥
गतिशीलानुकम्पेयं विधेयाऽग्रेऽपि संततम्।
पायं पायं तु पीयूषमेतत्तृप्तिर्न जायते॥ ४॥

टीका—सभी ब्रह्मचारियों ने समवेत स्वर में कहा—हे महाभाग! इस ज्ञानसत्र का आयोजन कर आपने हम सबके ऊपर महान अनुग्रह किया है। इस अनुकंपा को अभी और गतिशील रखें। इस अमृत को पीते-पीते तृप्ति नहीं होती॥ ३-४॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

विगतानां चतुर्णां तु दिनानां हि प्रसंगतः।
प्रस्तोतव्याः स्वजिज्ञासा अनुरूपाः समा अपि॥ ५॥
आधारं तमुपादाय समाधानमिह स्वयम्।
विधातुं तु करिष्यामि प्रयासं क्रमशः पुनः॥ ६॥

आह्वानेन महर्षेस्तु स्नेहे नोद्बोधितस्ततः ।
रोमाञ्चितः स्वजिज्ञासामृषिः कौण्डिन्य आह सः ॥ ७ ॥

टीका—सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी ने कहा—आप लोग गत चार दिनों के प्रसंगों के अनुरूप अपनी सभी जिज्ञासा प्रस्तुत करें। उसी आधार पर मैं समाधान करने का क्रमशः प्रयास करूँगा। महर्षि के आह्वान पर उनके स्नेह, उद्बोधन से रोमांचित ऋषि कौंडिन्य ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की ॥ ५-७ ॥

कौंडिन्य उवाच—

देव ! कर्मव्यवस्थेयमुच्चालब्धिस्तथाऽऽत्मनः ।
व्यावहारिकमेतच्च चित्रणं तपसस्तथा ॥ ८ ॥
योगस्यापि समक्षं नः कृतं गतदिनेष्वहो ।
तन्नास्ति कल्पनीयो नु इत्यस्माकं विनिश्चयः ॥ ९ ॥
जीवने योगतस्त्वेषां जनसाधरणस्य तु ।
आत्मनः प्रगतेर्मार्गः प्रशस्तः संभविष्यति ॥ १० ॥
आशंका पुनरप्येका मनसीयमुदेति नः ।
सनातने तु धर्मस्यरूपे चेश्वरसंस्थितौ ॥ ११ ॥
मतैक्यं नैव भिन्नेषु समुदायेषु दृश्यते ।
विभिन्ना मान्यताः संति समेषां तु निजा निजाः ॥ १२ ॥
विभिन्नमतसंग्रस्ताः संप्रदाय-जनाः समे ।
एषु प्रारंभिकेष्वेव जालेष्वालीनमानसाः ॥ १३ ॥
अधिगच्छंति नैवेत्ते परमं सत्यमंततः ।
आत्मनः प्रगतेर्यात्रा तेषां रुद्धाभवत्यतः ॥ १४ ॥

टीका—कौंडिन्य बोले—हे देव! आपने कर्म व्यवस्था, उच्चस्तरीय आत्मोपलब्धि एवं व्यावहारिक योग-तप का जो चित्रण हम सबके समक्ष विगत दिनों किया वह अकल्पनीय है, ऐसा हमारा विचार है। इन्हें जीवन में उतारने से निश्चित ही जनसाधारण की आत्मिक प्रगति का पथप्रशस्त होगा। एक आशंका फिर भी मन में उठती है, वह यह कि धर्म के सनातन के वर्गों में मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। सबकी अपनी भिन्न प्रकार की मान्यताएँ हैं। विभिन्न मत-संप्रदाय को मानने वाले सांसारिक जन इन प्रारंभिक जंजालों में उलझकर रह जाते हैं, परम सत्य तक नहीं पहुँच पाते। इससे उनकी आत्मिक प्रगति की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है॥ ८-१४॥

ईदृशी परिभाषा किं मान्यता सार्वभौमिकी।
विराट् सत्ता विधौ नैव विनिर्मातुं हि शक्यते॥ १५॥
मतावलंबिनः सर्वे ज्ञात्वा यां भ्रांतितः स्वकान्।
मुक्तान् कुर्युर्भवेद् येन जगन्निर्वैरविग्रहम्॥ १६॥
धर्मशाश्वत रूपस्य सामान्याय जनाय चेत्।
ज्ञानं दीयेत तन्नूनं भवत्प्रस्तुतमुत्तमम्॥ १७॥
व्यावहारिकमध्यात्म-प्रतिपादनमाश्रिताः।
बहुसंख्या-जना-धन्यजीवनाः स्युर्मतं हि नः॥ १८॥
ऋषेस्तत्कथनं पुण्यं श्रुत्वा मुदितमानसः।
याज्ञवल्क्यो महर्षिः स बभाषे हर्षगद्गदम्॥ १९॥

टीका—हे देव ! क्या ऐसी कोई परिभाषा, सार्वभौम मान्यता उस विराट सत्ता के संबंध में नहीं बनाई जा सकती, जिसे जानकर-समझकर जिज्ञासु मतावलंबी जन भ्रांतियों से मुक्त हो सकें? जिससे संसार वैर-विग्रह से मुक्त हो जाए। यदि धर्म के शाश्वत रूप की

जानकारी जनसामान्य को कराई जा सके तो हमारे विचार से आप द्वारा प्रस्तुत अध्यात्म के इन उत्तम व्यावहारिक प्रतिपादनों का आश्रय लेकर बहुसंख्य व्यक्ति अपना जीवन धन्य बना सकेंगे। ऋषि का वह सुंदर अनुकूल कथन सुनकर प्रमुदित मन से महर्षि याज्ञवल्क्य हर्ष से गद्गद होकर बोले— ॥ १५-१९ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

तात ! अध्यात्मतत्त्वस्य दर्शनं सुगमं त्विह।
सामान्यज़न लाभाय कर्तुं संप्रस्तुता स्वयम्॥ २०॥
भवता यातु जिज्ञासा तृप्तिदा हृदयस्य सा।
हृदि जागर्ति साधूनां लोककल्याणकामना॥ २१॥
गूढतत्त्वांतरालेषु निष्कर्षावाप्तिकाम्यया ।
यानस्य भावना लोककल्याणी सार्थयेदिमान्॥ २२॥
तात ! धर्मस्तु तां सत्तां परमां गंतुमुन्मुखान्।
मार्गानेकतमे सूत्रे बद्धुं तंतुरिव स्थितः॥ २३॥
धर्मस्य लक्ष्यमस्त्येतन्मानवं प्रापयत्यसौ।
चरमं बिंदुसीमानं पूर्णताया युगे युगे॥ २४॥
शक्तिर्महत्तमा नूनमीश्वरोऽस्ति निराकृतिः।
नैकं स्थानं च तस्यास्ति व्याप्तः सर्वत्र स सदा॥ २५॥
स परोक्षतया चैतान् संचालयति संततम्।
ब्रह्मांडस्य समग्रस्य क्रियाश्चापि प्रतिक्रियाः॥ २६॥
ईश्वरस्य समग्रा सा सत्ता प्राणिसुखावहा।
नरैर्विज्ञायते धर्म-मार्गे संचलनादिह ॥ २७॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे तात! अध्यात्म तत्त्व दर्शन को जनसाधारण के लिए सुगम बनाने हेतु प्रस्तुत की गई आपकी जिज्ञासा हृदय को तृप्ति देने वाली है। सज्जनों के हृदय में लोककल्याण कामना सदा जगी रहती है। गूढ़ तथ्यों की गहराई में उतरने तथा निष्कर्षों तक पहुँचने की लोककल्याणकारी भावना ही ऐसे समागमों को सार्थक बनाती है।

हे तात! धर्म परमसत्ता तक पहुँचने के कई मार्गों को एक सूत्र में बाँधने वाला धागा है। धर्म का लक्ष्य मनुष्य को प्रत्येक युग में पूर्णता के चरमबिंदु तक पहुँचाना है। ईश्वर एक महानतम शक्ति है, जिसका कोई आकार नहीं, कोई स्थान नहीं। वह तो सर्वत्र समान रूप से संव्याप्त है। वह परोक्षरूप से समग्र ब्रह्मांड की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संचालनकर्त्ता है। ईश्वरीयसत्ता, जो प्राणिमात्र को सुख देने वाली है, को धर्म के मार्ग पर चलकर ही जाना जा सकता है॥ २०-२७॥

धर्मशब्दस्य संक्षिप्तः सारगर्भश्च विद्यते।
अर्थोऽभ्युदयनिः श्रेयः सिद्धिः प्राणिभृतां मुने॥ २८॥
उन्नतिर्लौकिकी पारलौकिकी चापि निश्छला।
सूत्र संकेतकस्यास्य विस्तृते हि विवेचने॥ २९॥
कृतेऽस्यान्तः स्थितानां हि स्वभावगुणकर्मणाम्।
श्रेष्ठानां सुसमावेशस्तेषां भवति विद्यते॥ ३०॥
येषां जीवनसंस्कारे संबंधो जीवनोन्नतौ।
दुर्गुणानां समेषां च तेषां निष्कासनं तथा॥ ३१॥
परिष्करणमप्यस्मिन् समाविष्टं च सूत्रके।
पतनस्य पराभूतेर्हेतवोऽत्र भवंति ये ॥ ३२॥

जीवनं लौकिकं येन समृद्धिं तात गच्छति।
अध्यात्मप्रगतेर्लक्ष्यं सिध्येत्स धर्म उच्यते॥ ३३॥
सोऽपि धर्मो नरं कुर्यात्कर्मठं संयमान्वितम्।
परायणं परार्थे सत्परामर्शो ध्रुवं मुने ॥ ३४॥
शिक्षा सा धर्म एवास्ति मानवं मानवैस्तथा।
समष्टौ प्राणिमात्रेण कारयेत्प्रेम संततम्॥ ३५॥
यो वै यापयितुं व्यक्तिं जीवनं मानवोचितम्।
शिक्षयेद् वस्तुतः प्रोक्तं स धर्मो वेदसम्मतः॥ ३६॥

टीका—हे ऋषिवर! धर्म शब्द का अत्यंत संक्षिप्त सारगर्भित अर्थ है—अभ्युदय एवं निःश्रेयस अर्थात छल-प्रपंच रहित लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति। इस सूत्र-संकेत का विस्तृत विवेचन करने पर इसके अंतर्गत उन सभी श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभावों का समावेश हो जाता है, जिनका जीवन को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने से सीधा संबंध है। उन सभी दुर्गुणों का सुधार निष्कासन भी इसी सूत्र में समाविष्ट है, जो पतन-पराभव का निमित्त कारण बनते हैं। हे तात! जिससे लौकिक जीवन की समृद्धि एवं आत्मिक प्रगति की लक्ष्यसिद्धि होती है, वही धर्म है। हे मुनिवर! जो व्यक्ति को संयमी, कर्त्तव्यनिष्ठ, परमार्थपरायण बनाए, वही सत्परामर्श धर्म है। जो मानव को मानव एवं समष्टिगत प्राणिसत्ता से सदा प्रेम करना सिखाए, वही शिक्षा धर्म है। जो मानवोचित जीवन जीना सिखाए, वही सच्चा धर्म है॥ २८-३६॥

यथा प्राणैर्विना नैव जीव्यते क्षणमप्यहो।
नैति जीवनयात्रैवं धर्मधारणया विना॥ ३७॥
कारणं चेदमेवास्ति विद्वद्भिर्धर्ममुत्तमम्।
व्याख्यातृभिर्व्यापकं स नीतिकर्त्तव्यतोदितः॥ ३८॥

टीका—हे तात! धर्म मानव जीवन का प्राण है। प्राण वायु के बिना जिस प्रकार एक क्षण भी जीवित नहीं रहा जा सकता, उसी प्रकार धर्मधारणा को जीवन में उतारे बिना जीवनयात्रा एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। यही कारण है कि धर्म की एक व्यापक व्याख्या करते हुए विद्वज्जनों ने उसे नीतिमत्ता एवं कर्त्तव्यपरायणता का ही एकरूप माना है॥ ३७-३८॥

संस्कृतिः भारतीयैषा दैवीसंस्कृतिरुच्यते ।
महतासागरेणेयं विराजा तुल्यतां गता ॥ ३९ ॥
यस्यां विशंति निर्यान्ति यस्या भिन्नाः सदा भुवि।
संप्रदायास्तथासर्वास्तास्ताः संस्कृतयः समाः॥ ४०॥
उदारा व्यापका धर्मव्याख्येयं देवसंस्कृतेः।
यथैतैर्ऋषिभिः प्रोक्ता महत्ताबोधिनी तु सा॥ ४१॥
धर्मस्य धारणायास्तु स्वीकृतेरुपयोगिता।
वस्तुतोऽत्रास्तियन्नणां चिन्तनं प्रोन्नयेत्तु सा॥ ४२॥
आत्मनो गौरवस्येमानुभूतिं तथैव च।
सुजनतां व्यवहारस्य साहसं वितरेच्च सा॥ ४३॥
धर्मस्य धारणा व्यक्तिमुच्चास्थां प्रतिनिष्ठितम्।
आस्थायुक्तां करोत्येवं विश्वं याति कुटुंबताम्॥ ४४॥
यदि सा विग्रहे द्वेषे तथैव च दुराग्रहे ।
समुदेति न सा धर्मः परं विकृतचिंतनात् ॥ ४५॥
जाता सा हि मताऽनास्था जन्मदासंप्रदायगा।
मनोवृत्तिर्यया विश्वं त्रस्तं संदृश्यतेऽभितः ॥ ४६॥

टीका—हे तात ! भारतीय संस्कृति देव संस्कृति है। यह एक विराट महासागर की तरह है, जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मसंप्रदाय संस्कृतियाँ आकर मिलती हैं और समय पर निकलती भी रहती हैं। धर्म की व्याख्या जितने उदार एवं व्यापक अर्थों में देव संस्कृति के पक्षधर ऋषिगणों द्वारा वर्णित की गई है, उससे इसकी महत्ता का बोध होता है। वस्तुतः धर्मधारणा को अपनाने की उपयोगिता इसी में है कि वह मानवी चिंतन का स्तर ऊँचा उठाए। उसे आत्मगौरव की अनुभूति कराने के साथ-साथ सज्जनता को व्यवहार में उतारने का साहस प्रदान करे। धर्मधारणा व्यक्ति को उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति निष्ठावान बनाती है; जिससे सारा विश्व एक कुटुंब बन जाता है। यदि वह विग्रह, विद्वेष एवं दुराग्रह के रूप में प्रकट होती है तो उसे धर्म नहीं, अपितु मानव के विकृत-चिंतन से जन्मी, अनास्था को जन्म देने वाली संप्रदायवादी मनोवृत्ति मानना चाहिए, जिससे पग-पग पर विश्व त्रस्त दिखाई देता है॥ ३९-४६ ॥

संस्कृतिः सभ्यता भिन्ने यथा शब्दावनर्थतः।
रक्ष्योऽर्थो संप्रदायं तं भिन्नं मत्वा हि धर्मतः॥ ४७॥
परिस्थितिगताः सर्वे मान्यताऽधिष्ठिताश्च ते।
रीतिप्रचलनास्थाश्च संप्रदायाः सदा भुवि॥ ४८॥
कालप्रभावाद् ये यांति परिवर्तनमंततः।
धर्मस्तु शाश्वतं तथ्यमध्यात्मं हि सनातनम्॥ ४९॥

टीका—जिस प्रकार संस्कृति और सभ्यता दो पृथक शब्द हैं, उसी प्रकार धर्म और संप्रदाय को अलग-अलग मानकर अर्थ का अनर्थ होने से बचाना चाहिए। संप्रदाय सदा परिस्थितियों, मान्यताओं, प्रचलन एवं रीति-रिवाज पर ही संसार में टिके होते हैं, जो कि

समयानुसार बदलते रहते हैं; जबकि धर्म एक शाश्वत, सनातन तथ्य है, जो कि आत्मिकी का पर्याय है ॥ ४७-४९ ॥

तात धार्मिकताऽऽस्तिक्यमध्यात्मं त्रयमेव हि।
लौकिक्याः प्रगतेर्हेतोरनिवार्या मता मम ॥ ५० ॥
एषु चैकतमं नैव पृथग् द्रष्टुं हि शक्यते।
परस्परं हि त्रीण्यत्र गुम्फितानीव संततम् ॥ ५१ ॥
प्रोक्ता धार्मिकता कर्मनिष्ठा कर्त्तव्यपालनम्।
आस्तिक्यार्थो विराट्सत्ता परब्रह्मव्यवस्थितेः ॥ ५२ ॥
अनुशासनसम्मानस्तस्मिन् विश्वस्य स्वं सदा।
सत्कर्मणामनुष्ठाने योजयेच्च निरंतरम् ॥ ५३ ॥
आध्यात्मिक्यं तथैवात्मसत्ता सामर्थ्य उत्तमे।
दृढविश्वस्य मानव्यां स्थिता संजीवयत्यमून् ॥ ५४ ॥
कर्मयोगी नरो यः स परब्रह्मानुशासने।
विनिर्माति स्वकीयां तु श्रेष्ठां जीवनपद्धतिम् ॥ ५५ ॥
आत्मावलंबनं चैव करोत्यस्मै तु यः सदा।
आस्तिकः स नरः सत्यं मतो धर्मपरायणः ॥ ५६ ॥

टीका—हे तात! धार्मिकता, आस्तिकता एवं आध्यात्मिकता। तीनों ही आत्मिक एवं सांसारिक प्रगति हेतु अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक को अलग नहीं देखा जा सकता। तीनों परस्पर एकदूसरे से गुँथे हैं। धार्मिकता कर्त्तव्य परायणता का कर्मनिष्ठा का नाम है। आस्तिकता का अर्थ है—उस विराट सत्ता, परब्रह्म की व्यवस्था के अनुशासन को मानना, उस पर विश्वास रखते हुए सदैव स्वयं को सत्कर्मों में नियोजित रखना। आध्यात्मिकता, आत्मसत्ता की सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास रख

मनुष्यों को मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जीना सिखाती है। जो कर्मयोगी है, परब्रह्म के अनुशासन के अंतर्गत अपनी जीवन की रीति-नीति बनाता है। इसके लिए जो आत्मावलंबन का आश्रय लेता है, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण है आस्तिक है॥ ५०-५६॥

परिस्थितय आयाताः परिवर्तनमद्य तु ।
ऋषे धर्मस्वरूपं तु विकृतिं प्रापितो नरैः॥५७॥
श्रेष्ठः स्वकीयो धर्मस्तु निकृष्टश्च परस्य सः।
स्वकीया मान्यताः सत्या असत्या अपरस्य च॥५८॥
दुराग्रहोऽयं संव्याप्तश्चतुर्दिक्षु जना अपि।
सामान्यास्तुच्छमूलेषु विषमेषु परस्परम् ॥५९॥
धर्ममर्मानभिज्ञत्वाद् विग्रहस्य पृथक् स्थितेः।
विषवल्लरिका पुष्टौ जायंते दृष्टिगोचराः॥६०॥
एको धर्मस्तथैकः स ईश्वरोऽस्तीति मान्यताम्।
मत्वा मिथ्यां स्वकीयां च श्रेष्ठतां घोषयत्यहो॥६१॥
दुराग्रहः पक्षपातः सत्यस्य स्वीकृतिस्सदा।
निषेधत इहेतीत्थं संप्रदायोऽविवेकताम् ॥६२॥

टीका—हे ऋषिवर! आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। धर्म का स्वरूप विकृत कर दिया गया है। अपना धर्म श्रेष्ठ दूसरे का निकृष्ट, अपनी मान्यता सच्ची, दूसरे की झूठी। यह दुराग्रह ही चारों तरफ संव्याप्त है। जनसामान्य छोटी-छोटी बातों पर धर्म का मर्म न समझ पाने के कारण परस्पर झगड़ते, विग्रह एवं अलगाव की विषवेलि का पोषण करते दृष्टिगोचर होते हैं। धर्म एक है, इस मान्यता को झुठलाकर सभी अपनी श्रेष्ठता की दुहाई देते नजर आते हैं। पक्षपात और दुराग्रह

सत्य को समझने से इनकार कर देता है और ऐसी स्थिति में समुदाय विवेक ही खो बैठता है ॥ ५७-६२ ॥

अद्य धर्मो विभिन्नैश्च समुदायैर्नरैरपि ।
गृहीतः साधनत्वेन पूर्तये तूदरस्य सः ॥ ६३ ॥
विस्मृत्य धर्ममर्मैते सर्वेऽकर्मठतां श्रिताः ।
पराश्रयं हि जीवंति बाधन्तेऽज्ञाँश्च शोषणैः ॥ ६४ ॥
धर्मोपदेशकानां च वेषेणाच्छन्नमूर्तयः ।
दृश्यंतेसंख्यका धर्मधृतिर्येषां न जीवने ॥ ६५ ॥
वस्तुतत्त्वानभिज्ञास्ते धर्मबद्धादरा दृढाः ।
भावुकाः पुरुषाः प्रायो धर्मोन्मादिनृणामिह ॥ ६६ ॥
एतादृशानां तर्कैस्तैर्मान्यताभिर्वृता विषम् ।
वमन्तः संप्रदायेषु समाजं ध्वंसयन्ति ते ॥ ६७ ॥
समयस्यास्ति वांच्छेयं जनः साधारणस्तु तम् ।
धर्मस्यार्थं विजानीयान् मन्येतापि च शाश्वतान् ॥ ६८ ॥
सिद्धान्तानथसद्भावान्निवसन्तु तथैव च ।
व्यवहरन्तु च निःशकं सर्वेऽप्येते परस्परम् ॥ ६९ ॥
सम्भवेच्च्व तदैवैतत्समुदायेषु समेषु ते ।
धर्मसंस्कृतिदूतास्तु कुर्युस्तामतिविस्तृताम् ॥ ७० ॥

टीका—आज धर्म को किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों अथवा समुदायों ने उदरपूर्ति का साधन बना लिया है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। धर्म का मर्म कर्त्तव्यपरायणता को भूलकर वे अकर्मण्य, परावलंबी जीवन जीते एवं दूसरे नासमझ व्यक्तियों का शोषण करते दिखाई देते हैं। धर्मोपदेशक का लबादा ओढ़े ऐसे अगणित व्यक्ति देखे जा सकते हैं;

जिनके जीवन में धर्मधारणा का किंचित् मात्र भी अंश नहीं होता। वास्तविकता को न जान पाने एवं धर्म के प्रति अपनी दृढ़ आस्था होने के कारण भावुक व्यक्ति बहुधा ऐसे धर्मोन्मादियों के तर्कों-मान्यताओं के चंगुल में फँसकर तथाकथित 'संप्रदायवाद' का विष उगलते, समाजरूपी भवन को ध्वस्त करते दिखाई देते हैं। समय की माँग है कि जनसाधारण धर्म के सही अर्थ को समझें, धर्म के शाश्वत सिद्धांतों को मानें एवं परस्पर निःशंक होकर सद्भाव से व्यवहार करना सीखें। यह तभी संभव है, जब सारे समुदाय में धर्म-संस्कृति के अग्रदूत सर्वधर्म समभाव की भावना का विस्तार करने का सत्साहस करें॥ ६३-७०॥

भवतः प्रतिपाद्यानि बुद्धियुक्तानि देव तु।
लाभा अपि न सन्दिग्धास्तथाप्येतत्तु दृश्यते॥ ७१॥
अनेका व्यक्तयो राजमार्गं त्यक्त्वा तृणाकुलम्।
अपथं यांति शोचंति मन्यन्तेऽयोग्यमान्यताः॥ ७२॥
देव ! धर्मस्य सिद्धान्तान् सार्वभौमान् वद प्रियान्।
समस्तानां च धर्माणां संप्रदायेषु सम्मतान्॥ ७३॥
तेषामेव करिष्यामो विविक्तिं च, प्रचारणम्।
संकीर्णा येन ज्ञास्यंति भिन्नतां सत्यरोधिनीम्॥ ७४॥
सत्याविरोधिनीं चात्र वस्तुतस्त्वेकतां समे।
ब्रह्मज्ञो सुप्रसन्नोऽभूदुवाचार्थयुतं वचः ॥ ७५॥

टीका—ब्रह्मचारियों ने कहा—भगवन् ! आपके द्वारा व्यक्त किए गए सभी प्रतिपादन सर्वथा बुद्धिसंगत दीखते हैं। उनके लाभ भी असंदिग्ध हैं, इतने पर भी देखा जाता है कि अधिकांश लोग इस राजमार्ग को छोड़कर झाड़-झंखाड़ जैसी पगडंडियो पर भटकते हैं,

उलटा सोचते और अनुपयुक्त मान्यताएँ अपनाते हैं। हे देव ! उन धर्म सिद्धांतों को बताइए जो सार्वभौम हैं। समस्त धर्मसंप्रदायों में जिनकी समान मान्यता है। हम उन्हीं का विवेचन और प्रचार करेंगे। इससे संकीर्णतावादी यह समझने में समर्थ होंगे कि भिन्नता अवास्तविक है और एकता वास्तविक। यह सुनकर ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हुए और सारगर्भित वाणी में बोले ॥—७१-७५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

सार्वभौमस्य धर्मस्य व्याख्येयमृषित्तम ।
दशभिर्धर्मसारैस्तैः शक्या कर्तुं हि लक्षणैः ॥ ७६ ॥
सर्वेषां प्राणरूपाश्च धर्माणां संति ते ध्रुवम्।
धर्मतत्त्व विवित्तौ च स्वेनैव विधिना समे ॥ ७७ ॥
एतेषामेव शाखानां कुर्वते तु निरूपणम् ।
युग्मैः पञ्चभिरप्यत्र ज्ञातुं शक्यानि पूर्णतः ॥ ७८ ॥
लक्षणानि तु धर्मस्य सर्वाणीमानि मानवैः।
युग्मेष्वन्यतमं वक्तुं शक्यते मुनिपुंगव ॥ ७९ ॥
समन्वयं तु सत्यस्य विवेकस्य परस्परम् ।
युज्यते संयमं वक्तुं कर्त्तव्यं च द्वितीयकम् ॥ ८० ॥
मर्यादापालनं सर्वं तृतीयमनुशासनम् ।
पराक्रमस्य तुर्येऽस्ति सौजन्यस्याथ मिश्रणम् ॥ ८१ ॥
सहकारं परार्थं च पञ्चमं मन्यतामिह ।
पञ्चस्वेतानि वक्तुं वा शक्यान्यथदशस्वपि ॥ ८२ ॥
न्यूनाधिकासु संख्यासु सामान्यानां हितेच्छया।
दैवीसंपत्ति-नाम्नेमान् गीताकारो व्यभूषयत् ॥ ८३ ॥

समेषां सारसंक्षेपो वक्तुं शक्यत एव तु।
कर्त्तव्यपालनं सामाजिकदायित्वनिर्वहः ॥८४॥
जीवनस्य परिष्कारः समुदायोदयस्य च।
सारनिष्कर्ष एवास्ति लक्षणेषु दशस्वपि॥८५॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे ऋषिश्रेष्ठ! सार्वभौम धर्म की व्याख्या-विवेचना धर्म के सारतत्त्व दस लक्षणों से की जा सकती है। वे ही सब धर्मों के प्राण हैं। इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ धर्मतत्त्व विवेचना में अपने-अपने ढंग से निरूपित की जाती है। इन्हें मानवमात्र के द्वारा पाँच युग्मों के रूप में भी जाना जा सकता है। हे मुनिवर! इन युग्मों में से एक को सत्य और विवेक का समन्वय कह सकते हैं। दूसरे को संयम और कर्त्तव्य कहा जाना चाहिए। तीसरे को मर्यादापालन और अनुशासन निर्वाह कहते हैं। चौथे में सौजन्य और पराक्रम का सम्मिश्रण है। पाँचवें को सहकार-परमार्थ कहना चाहिए। इन्हें सामान्य व्यक्तियों की बोध दृष्टि से पाँच-दस या न्यूनाधिक संख्या में भी कहा जा सकता है। इन्हीं को गीताकार ने दैवी संपत्ति के नाम से विभूषित किया है। इन सबका सार-संक्षेप कहना हो तो उसे कर्त्तव्यपालन और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी कह सकते हैं। जीवन के सर्वांगपूर्ण परिष्कार एवं समष्टिगत मानव समुदाय के अभ्युदय का सार-निष्कर्ष धर्म के इन दस लक्षणों में सन्निहित है॥ ७६-८५॥

तात ! धर्मं कर्मकांड-पर्यन्तं रीतिसीमितम्।
स्थितं प्रचलनेष्वत्र मन्यन्ते पुरुषास्तु ये॥८६॥
कुर्वते हृद्गतं ते नास्तिकता तत्त्वदर्शनम्।
अतएव त्रसन्त्येते संक्षोभभरितं पुनः ॥८७॥

जीवनं यापयन्तस्ते दृश्यंते परितो भुवि।
धर्ममर्माधिगंता यस्तेन प्राप्तो हि वस्तुतः॥८८॥
मार्गो यः प्रापयेन्मर्त्यं सीमानं परमात्मनः।
धर्मो रक्षति तं यो वै धर्मं सम्मनुते स्वयम्॥८९॥
न चलेद्धर्ममार्गे यस्तं स नाशान्न त्रायते।
सन्ति ये तु नरश्रेष्ठ! सत्या धर्मपरायणाः॥९०॥
स्वानां भगवतां नैव विनिर्माणोन्मुखास्तु ये।
तेषां नाम्ना न कुर्वन्ति विग्रहादिविडंबनाम्॥९१॥
मन्यन्ते केवलं तस्याः सत्ताया अनुशासनम्।
एतादृशास्तु सन्त्यत्र ये ये वै नरपुंगवाः॥९२॥
आस्तिका वस्तुतः सर्वे ते हि धर्मपरायणः।
सारगर्भं समाधानं श्रुत्वाऽपृच्छत्स्वयं नतः॥९३॥

टीका—हे तात ! धर्म को कर्मकांड तक, प्रचलन रीति-रिवाजों तक सीमित मानने वाले व्यक्ति आस्तिकता के तत्त्व दर्शन को हृदयगंम नहीं कर पाते। इसी कारण त्रास पाते, संक्षोभों-विक्षोभों से भरा जीवन जीते पृथ्वी पर चारों ओर देखें जाते हैं। जिसने धर्म का मर्म जान लिया, समझ लेना चाहिए कि उसने परमात्मसत्ता तक पहुँचने का सच्चा मार्ग खोज लिया, हे नरश्रेष्ठ! धर्म उसी की रक्षा करता है। जो धर्म को मानता है, पर जो उसके कहे पर नहीं चलता, धर्म स्वयं उसे नाश से नहीं बचा पाता है। सच्चे धार्मिक व्यक्ति अपना भगवान स्वयं विनिर्मित करने, उस नाम पर भाँति-भाँति के विग्रह खड़े करने की विडंबना में न उलझकर उस एक परमसत्ता के अनुशासन को ही मानते हैं। ऐसे नर पुंगव ही सही अर्थों में आस्तिक, धर्मपरायण कहलाते हैं। अपनी जिज्ञासा का

सारगर्भित समाधान सुनकर कृतकृत्य हृदय से ऋषि कौंडिन्य ने खड़े होकर विनम्र भाव से पूछा॥ ८६-९३॥

कौंडिन्य उवाच—

देव ! धर्मस्तु व्याख्यातो यथाऽयं भवता वयम्।
धन्या जातास्तु तेनाथ यश्चैतन्मर्मजीवने॥ ९४॥
धारयिष्यति सोऽवश्यमात्मनः प्रगतेः स्वतः।
दुर्लभां लक्ष्य-सिद्धिं तामञ्जसैव गमिष्यति॥ ९५॥

टीका—कौंडिन्य बोले—हे देव ! धर्म की व्याख्या जिस प्रकार आपने की है, उसमें हम सभी धन्य हुए हैं। जो भी इस मर्म को जीवन में उतारेगा, वह निश्चित ही आत्मिक प्रगति की दुर्लभ लक्ष्यसिद्धि को सरलता से प्राप्त कर लेगा॥ ९४-९५॥

पूर्णतामद्य संप्राप्तः समयस्तु यतस्ततः।
गोष्ठीं समापयंस्तां स सत्राध्यक्ष उवाच यत्॥ ९६॥
भद्राः! धर्मधृतेः सोऽयं प्रसंगो जटिलस्तथा।
विस्तृतोऽस्ति दिनेनैव व्याख्यातुं नैव संभवम्॥ ९७॥
उचितं तत एवैतत् प्रसंगेऽस्मिन् पुनस्त्विह।
भवेत्तन्मंथनं मान्याः निष्कर्षं प्राप्तुमुत्तमम्॥ ९८॥
महर्षयः समेऽप्यस्माद् याज्ञवल्क्यं प्रणम्य च।
प्रस्थिताः स्वकुटीरांस्ते चिंतनैकरतास्ततः॥ ९९॥

टीका—चूँकि आज समय पूरा हो चुका था, अतः सत्राध्यक्ष ने ज्ञानगोष्ठी के समापन की घोषणा करते हुए कहा—उपस्थित भद्रजनो! धर्मधारणा संबंधी प्रस्तुत प्रसंग काफी जटिल एवं लंबा है। एक दिन में इस विषय पर पूरी चर्चा हो पाना संभव नहीं है। अतः उचित होगा

कि इस प्रसंग पर कल और मंथन किया जाए, ताकि हम अंतिम निष्कर्ष तक पहुँच सकें। सभी महर्षि याज्ञवल्क्य का अभिवादन कर वहाँ से संध्यावंदन हेतु अपनी-अपनी कुटिया को चिंतन में संलग्न होते हुए प्रस्थान कर गए॥ ९६-९९ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधना प्रकटीकरणयोः, महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते 'धर्मधारणा' इति प्रकरणो नाम

॥ पंचमोऽध्यायः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सर्वधर्म समभाव प्रकरण

प्रारब्धा ज्ञानगोष्ठी सा षष्ठस्याथ दिनस्य तु।
स्वस्तिवाचनपूर्वं च गायत्रीपाठपूर्वकम्॥ १ ॥
ज्ञानविज्ञानयोः केंद्रमालोकस्य निधिं प्रभुम्।
ध्यात्वासवितृदेवं च समिद्भर्ज्ञानयज्ञजम् ॥ २ ॥
जिज्ञासवस्तदालोकं ज्वालयामासुरुत्तमम् ।
ओतप्रोता तदालोकैः सृष्टिरेषा समन्ततः॥ ३ ॥
याज्ञवल्क्यस्य संकेतं सत्राध्यक्षस्य स ऋषिः।
प्राप्य कौण्डिन्य उत्थाय जिज्ञासां संन्यवेदयत्॥ ४ ॥

टीका—छठे दिन की ज्ञानगोष्ठी मंगलाचरण पूर्वक आरंभ हुई। उपस्थित जिज्ञासुओं ने सस्वर गायत्री पाठ और ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश केंद्र सविता देव का ध्यान करते हुए ज्ञानयज्ञ में समिधा डालकर आलोक प्रज्वलित किया, जिस आलोक से यह समस्त सृष्टि ओत-प्रोत है। सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी का संकेत मिलते ही ऋषि कौंडिन्य खड़े हुए एवं उन्होंने विनम्रभाव से अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा॥ १-४ ॥

कौंडिन्य उवाच—

देव ! धर्मस्य संबंधि ह्यस्तनं हि विवेचनम् ।
श्रुत्वा मन्थनमस्माभिर्विहतं विषये बहु ॥ ५ ॥
भवतः प्रतिपाद्यानि बुद्धियुक्तानि देव तु।
असमञ्जसमेकं तु चित्तेऽस्माकमुदेति यत् ॥ ६ ॥
तत्त्वदर्शनरूपाया धर्मस्यास्य धृतेः समान्।
जानन्तोऽपि मतान् भिन्नानाचरन्त्येषु नो कथम्॥ ७ ॥
समागमेषु सर्वेषु धार्मिकेषु च पर्वसु ।
जपानुष्ठनयोः स्नानरात्रिजागरणेषु च ॥ ८ ॥
देवस्थानेषु सामान्यजनानां दृश्यते महान्।
संमर्दो धर्मचर्चां चाऽसंख्यां शृण्वन्ति ते सदा॥ ९ ॥
दृश्यते च तथाप्यत्रानैतिकत्वं पदे पदे ।
आक्रामकत्वचौर्यादि विद्वेषा विग्रहास्तथा॥ १० ॥
धर्मच्छायासु पुण्यासु धर्मनाम्ना कथं पुनः।
भीषणो नरसंहारः पशुहत्यादिकं तथा ॥ ११ ॥
धर्मस्तु सार्वभौमोऽस्ति कथं तत्ते मतान्तराः।
कल्पिताश्च निजाव्याख्या दृश्यंते बाह्यडंबराः॥ १२ ॥
धर्मस्य परिवृत्तौ ते जना धर्मपरायणाः।
लग्ना व्यग्रतया देव ! दृश्यंते किमिदं कथम्॥ १३ ॥
विसंगते रहोदर्शिन् कारणं नस्तु बोध्यताम्।
अस्माद् विपर्ययान्मोक्तुमुपायो बोध्यतां प्रभो॥ १४ ॥

टीका—कौंडिन्य बोले—हे देव ! धर्म संबंधी कल का विवेचन सुनने के बाद हम सबने उस विषय पर काफी मंथन किया है।

भगवन् ! आपके द्वारा व्यक्त किए गए सभी प्रतिपादन सर्वथा बुद्धिसंगत दीखते हैं। एक असमंजस हमारे मन में और उठा है कि तत्त्व दर्शन, धर्मधारणा के इन विभिन्न पक्षों को जानते-समझते हुए भी सामान्यजन इस पर आचरण क्यों नहीं कर पाते ? धार्मिक समागमों, पर्व-त्योहारों, अनुष्ठानों, अखंड जप, सामूहिक स्नान, रात्रि जागरण में एवं देव स्थानों पर जनसाधारण की अपार भीड़ दृष्टिगोचर होती है। धर्मोपदेशकों के संदेश भी अगणित व्यक्ति सुनते दिखाई देते हैं। फिर भी अनैतिकता, आक्रामकता, विग्रह-विद्वेष, चोरी-लूटमार एवं धर्म की आड़ में परस्पर मारकाट क्यों कर पग-पग पर दिखाई देती है ? सार्वभौम धर्म एक होते हुए भी अनेक मत-मतांतर, प्रत्येक की अपनी-अपनी अलग-अलग मनगढ़ंत विवेचनाएँ एवं बाह्याडंबर क्यों देखे जाते हैं ? हे देव ! धर्मपरिवर्तन की विडंबना में धर्मपरायण कहे जाने वाले व्यक्ति ही उलझे दिखाई देते हैं, ऐसा क्यों ? हे तत्त्वदर्शी इस विसंगति का कारण बताइए और साथ ही इस विपर्यय से बचने-छूटने का उपाय भी बताइए॥ ५-१४॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

जिज्ञासा शृंखलां श्रुत्वा मोदं याति मनस्तु नः।
भवता पृच्छता प्रश्नमिमं मानवता समा ॥ १५॥
धन्यी कृता नवोत्साहो भविताऽस्य समाहितेः।
भद्रा आकर्ण्यतामेतद्रहस्यंसमञ्जसम् ॥ १६॥
प्राणाः शरीरं हे तात ! मिलित्वा जायते यथा।
पुरुषस्तथैव धर्मोऽस्ति घटकद्वयनिर्मितः ॥ १७॥
बाह्यरूपं तु तस्यैकं यत्पूजास्तवनादिषु।
दीपनीराजनाख्येषु कर्मकांडेषु दृश्यते॥ १८॥

परमाया हि सत्ताया ध्यानायात्र तु कर्हिचित्।
प्रतीकानाश्रयन्त्येषा निराकारा यतः स्वतः॥ १९॥
संप्रदायेषु भिन्नेषु देशकालादि कारणात्।
प्रतीकाः संति भिन्नास्ते लक्ष्यमेकं तथापि तु॥ २०॥
समष्टौ व्याप्तया ब्राह्मया तया चैतन्यसत्तया।
एकात्मता प्रतिष्ठा सा तद्गुणाचरणं तथा॥ २१॥
उपासनाविधिर्भिन्नो रीतयः पर्वणामपि।
भिन्ना भवंति सन्त्येता यतः पद्धतयः परम्॥ २२॥
स्वीकृत्य पद्धतीर्यास्तु लक्ष्यमाप्तुं समेऽपि तम्।
यतन्ते परमात्मानं सत्प्रवृत्तिसमुच्चयम् ॥ २३॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—आपकी जिज्ञासा शृंखला सुनकर हमारा मन प्रमुदित होता है। आपने यह प्रश्न पूछकर सारी मानवता को धन्य किया है। इसके समाधान से शीघ्र ही नया उत्साह उत्पन्न होगा। हे भद्र जनो ! इस असमंजस भरे आश्चर्य का रहस्य सुनो। हे तात ! जिस तरह शरीर और प्राण दोनों मिलकर पूर्णपुरुष बनते हैं, धर्म भी ऐसे ही दो घटकों से मिलकर बना है। एक उसका बाह्यरूप है, जो पूजा-अर्चा, स्तवन, दीप-आरती इत्यादि कर्मकांड के रूप में देखा जाता है। परमसत्ता का ध्यान करने के लिए कभी-कभी प्रतीकों का आश्रय लिया जाता है, वस्तुतः वह सत्ता स्वतः निराकार है। प्रत्येक समुदाय में इसके भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, चूँकि प्रतीकों में देश-काल आदि कारण होते हैं, पर उन सबका लक्ष्य एक ही होता है, समष्टि में संव्याप्त ब्राह्मीचेतना सत्ता से एकात्मता स्थापित करना, उस भगवद्सत्ता के गुणों को अपने जीवन में उतारना। उपासना के विधि-विधान, पर्वों के रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर

गहराई से देखा जाए तो ये सभी मात्र पद्धतियाँ हैं, जिन्हें अपनाकर सभी एक ही लक्ष्य सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय उस परमसत्ता के निकट पहुँचने का प्रयास करते हैं ॥ १५-२३ ॥

धर्मस्यास्यापरं रूपमान्तरंगं तु विद्यते ।
भावना प्रमुखं कर्मकांडे प्राणास्तु केवलम् ॥ २४ ॥
भावनायाः समावेशादागच्छंति विना च ताम् ।
निर्जीवचिह्नमात्रं तन्मनोमोदि च साधनम् ॥ २५ ॥
प्राणिनां समुदायेन समष्ट्या प्रेम सर्वदा ।
अविशेषं नरश्चैषां सेवा, धर्मासवो मताः ॥ २६ ॥
धर्मस्य पूर्णता सेयं सार्थक्यं जीवनस्य च ।
सेवाप्रेममयं कृत्वैवात्मानं संभवत्यपि ॥ २७ ॥

टीका—धर्म का दूसरा अंतरंग रूप भावना प्रधान है। कर्मकांड इत्यादि में प्राण भावना के समावेश से ही आता है। उसके बिना तो वे निर्जीवमात्र चिह्नपूजा, मनबहलाव का साधन बनकर रह जाते हैं। समस्त प्राणिसमुदाय एवं मानवमात्र से निर्विशेष प्रेम एवं सेवा-साधना को ही धर्म का प्राण मानना चाहिए। धर्म की पूर्णता, जीवन की सार्थकता स्वयं को प्रेममय एवं सेवामय बनाने से ही संभव हो पाती है ॥ २४-२७ ॥

परमात्मप्रेम संयुक्ता जना ये शुद्धचेतसः ।
सृष्टेः कणेषु पश्यंति छायां तस्याभितो मुने ॥ २८ ॥
वनस्पतिषु पश्यंति चराचरगतं प्रभुम् ।
जीवेषु भिन्नवर्णादियुतेष्वेते नरेष्वपि ॥ २९ ॥
योजना उच्चनीचानां धननिर्धनिनां तथा ।
लघूनां महतां भेदं विस्मृत्येह तु प्राणिनः ॥ ३० ॥

प्रेमदृष्ट्यैव पश्यंति धर्मात्मानस्तु तेऽर्थतः।
परमेशप्रियाः प्रेमाऽसीमाऽनन्तं हि वस्तुतः॥ ३१॥
यदा मनुष्यः सेवायां साधनायां रतः सदा।
मत्वा पूजां निजं कर्म कुरुतेऽहंकृतिस्ततः॥ ३२॥
नाशमेति स्वयं हेतुरस्ति याऽपूर्णतास्थितेः।
परमात्मसत्तया चैक्यं पूर्णतामनुयाति च॥ ३३॥

टीका—हे ऋषिश्रेष्ठ ! परमात्मसत्ता से सच्चे हृदय से प्रीति रखने वाले मुमुक्षजनों को सृष्टि के प्रत्येक कण में चहुँओर उन्हीं की छाया दिखाई देती है। वृक्ष-वनस्पति, जीव-जंतु, विभिन्न वर्ण, वर्ग, जाति व लिंग के नर-समुदाय में उन्हें एक ही चराचर सत्ता के दर्शन होते हैं। जो व्यक्ति धनी-निर्धन, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेदभाव भुलाकर प्राणिमात्र को प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण हैं, परमेश्वर को प्यारे हैं। वस्तुतः प्रेम की परिधि असीम है, अनंत है। जब मनुष्य सेवा-साधना में निरत हो हर काम को पूजा मानकर करता है तो उसका अहंकार जो अपूर्णता का कारण है, स्वयमेव मिटता चला जाता है एवं उसे परमात्मसत्ता से एकत्व की पूर्णता की अनुभूति होने लगती है॥ २८-३३॥

दुर्भाग्यादेष मर्त्यानां समुदायस्तु वर्गशः।
बाह्ये धर्मस्वरूपे हि दत्तचित्तस्तु तिष्ठति॥ ३४॥
अस्याविडंबनायाश्च मोक्तव्या जनता समा।
सर्वधर्म समं भावं कर्तुं तु हृदयंगमम्॥ ३५॥
परेषामनिवार्यं तु संस्कृतेरुपदेशकाः।
धृतिं धर्मस्य स्वीये ते जीवने विदधत्विमाम्॥ ३६॥

प्रमाणैर्ब्रह्मणः सत्तां प्रतिपाद्येश्वरास्थया।
तस्यास्तैः फलितार्थैश्च विज्ञान् कुर्वन्तु ते जनान्॥ ३७॥
दृढेष्वास्तिक्यमूलेषु धर्मगे संप्रदायगे।
भेदे ज्ञाते स्वयं भ्रांतेर्नीहारो नाशमेष्यति॥ ३८॥

टीका—दुर्भाग्यवश विभिन्न वर्गों के मनुष्य समुदाय धर्म के बाह्यस्वरूप में उलझकर रह जाता है एवं उसी को सब कुछ मानते हुए पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो जाता है। इस विडंबना से जनसमुदाय को मुक्ति दिलानी चाहिए। सर्वधर्म, समभाव के स्वरूप को हृदयंगम कराने हेतु यह अनिवार्य है कि संस्कृति के उपदेष्टा धर्मधारणा को स्वयं जीवन में उतारें एवं परब्रह्म की सत्ता को विभिन्न प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित कर ईश्वर विश्वास एवं उसके फलितार्थों से सबको परिचित कराएँ। आस्तिकता की जड़ें मजबूत होने पर एवं धर्मसंप्रदाय का अंतर समझ में आ जाने पर भ्रांतियों का कुहासा स्वयमेव मिटता चला जाएगा॥ ३४-३८॥

कृतं निष्कामभावेन कर्म धर्मोऽस्ति वस्तुतः।
स्वार्थहेतुकृतं कर्म भौतिकाध्यात्मबाधकम्॥ ३९॥
स्वतः सिध्यति स्वार्थस्तु सेवते प्राणिनो नरः।
यर्हि मत्वा निजं धर्मं परमार्थे रतो भवेत्॥ ४०॥
विक्रये गोरसस्यात्र हरेर्मिलनमुत्तमम्।
एकस्मिन् पथि लाभोऽयं कर्मणोऽस्तु द्वयोरपि॥ ४१॥
साधनायां च सेवायां नियुक्ता व्यक्तयस्तु याः।
लभंते सहयोगं ताः सम्मानमनुदानकम्॥ ४२॥
अतोऽस्माभिरिदं बोध्यं परमार्थो हि वस्तुतः।
स्वार्थो यतः समष्टौ तु व्यष्टिराविशति स्वयम्॥ ४३॥

टीका—वस्तुतः निष्काम भाव से किया गया कर्म ही धर्म है। जो कार्य अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु किया जा रहा हो, वह मनुष्य की भौतिक एवं आत्मिक दोनों ही प्रगति में बाधक बनता है। स्वार्थ तो स्वतः ही सधने लगता है, जब मनुष्य प्राणिमात्र की सेवा को अपना धर्म मानकर परमार्थ में जुट जाता है, यह तो '**गोरस बेचन हरि मिलन एक पंथ दो काज**' की तरह लाभ-ही-लाभ है। सेवा-साधना में नियोजित व्यक्ति स्वतः जन सम्मान, सहयोग एवं भौतिक अनुदान पाता रहता है। वस्तुतः परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ है, चूँकि समष्टि में व्यक्ति (व्यष्टि) स्वतः ही आ जाता है॥ ३९-४३॥

धर्मो वक्तव्य एषोऽत्र कार्यशैली करोति या।
जीवनं मानवानां तु सफलं सार्थकं तथा ॥ ४४ ॥
व्यक्तित्वस्य च सर्वांगपरिष्कारविधायिका।
अस्या विवेकशीलैस्तत्कर्त्तव्यमनुशासनम् ॥ ४५ ॥
बाह्यं रूपं सदाचारो धर्मस्यास्ति यथा तथा।
रूपमांतरिकं तस्य सद्भावो विद्यते ध्रुवम्॥ ४६ ॥
धर्मबाह्यप्रवृत्तीर्या व्यक्तिः सेवां श्रमादिकम्।
आदायाथ च धर्मस्य रूपमांतरिकं पुनः॥ ४७॥
शालीनतां च सौजन्यं सारल्यं शांतजीवनम्।
संवेद्यतां तथौदार्यं दयां मैत्रीं तथैव च॥ ४८ ॥
जीवनं यापयन्तस्तु शान्तिं संतोषमुत्तमम्।
अनुभवंति तु ये संति ते वै धर्मपरायणाः ॥ ४९ ॥

टीका—धर्म को, मानव जीवन को सफल, सार्थक बनाने एवं व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण परिष्कार कर दिखाने वाली एक कार्यशैली कहा जाना चाहिए। हर विवेकशील व्यक्ति को इसका अनुपालन

करना चाहिए। धर्म का बाह्यस्वरूप जहाँ सदाचार है, वहाँ सद्भाव उसका आंतरिक स्वरूप है, जो व्यक्ति श्रम-सेवा आदि धर्म की बहिरंग प्रवृत्तियों एवं सज्जनता, शालीनता, सरलता, सादगी, संवेदनशीलता, उदारता, करुणा, मैत्री जैसी अंतरंग सत्प्रवृत्तियों को अपनाकर जीवनक्रम चलाते हुए दैनंदिन जीवन में शांति एवं संतोष की अनुभूति करता है, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण है ॥ ४४-४९ ॥

तात ! मानवधर्मे ये त्वास्थावन्तो नरा न ते।
मान्यतासु स्वकीयासु कुर्वते हि दुराग्रहम् ॥ ५० ॥
सत्यान्वेषणयुक्तास्तु कर्मयोगिन एव च।
जिज्ञासुस्तरका नूनं साधकाः संति ते ध्रुवम् ॥ ५१ ॥
एतादृशं हि सद्भावं स्वांतःकरण उत्तमम् ।
विकासयंति ते विश्वे वैविध्यभरिते स्थिताः ॥ ५२ ॥
मान्यता या विभिन्नानां वर्गाणां वा परंपराः।
मानयँस्ताः समान् बंधून् मन्यन्ते सहयोगिनः ॥ ५३ ॥
तर्कतथ्यप्रमाणानां भाषायां ब्रह्मवर्णनम् ।
कृत्वा कुर्वन्ति चाश्वस्तानन्या नास्तिकपक्षगान् ॥ ५४ ॥
एतादृशा उदारा ये धार्मिकाः संति तेऽर्थतः।
अध्यात्मवादिनो धर्मरता धर्मोपदेशकाः ॥ ५५ ॥
विपरीतानि येषां तु नृणामाचरणानि वै।
तात्कालिकं परं लाभं प्राप्नुयुस्ते तु चान्ततः ॥ ५६ ॥
तेषां यथार्थताऽऽयाति समेषां सम्मुखे ततः।
भर्त्सना पात्रतां यान्ति कोपभाजनतां प्रभोः ॥ ५७ ॥

टीका—हे तात ! मानवधर्म में आस्था रखने वाले कभी अपनी मान्यता के प्रति दुराग्रही नहीं होते। वे सत्यान्वेषी, कर्मयोगी एवं जिज्ञासु स्तर के साधक होते हैं। वे इस स्तर की सदाशयता अपने अंतःकरण में विकसित करते हैं कि विविधता से भरी इस सृष्टि में विभिन्न वर्गों की मान्यताओं-परंपराओं का सम्मान करते हुए उन्हें अपना ही बंधु-सहयोग मानें। वे तर्क-तथ्य प्रमाणों की भाषा में परमब्रह्म की व्याख्या कर अन्य अनेकों को आश्वस्त करते एवं आस्तिकता को पक्षधर बनाते हैं। ऐसे उदार धर्मचेता ही सही अर्थों में धर्मपरायण, धर्मोपदेशक, अध्यात्मवादी कहलाने योग्य हैं। इसके विपरीत आचरण करने वाले तात्कालिक अर्थ लाभ एवं सम्मान भले ही पा लें, अंततः उनकी यथार्थता सबके सम्मुख आ ही जाती है। वे भर्त्सना के पात्र एवं ईश्वरीयसत्ता के कोप भाजन बनते हैं॥ ५०-५७ ॥

कौंडिन्य उवाच—

धर्माः कतिविधा मुख्या संति विश्वेऽधुना तु ते।
ब्रूहि तेषां स्वरूपं नः प्रभो मानवमंगलम्॥ ५८ ॥

टीका—कौंडिन्य बोले—हे देव ! इन दिनों संसार भर में प्रमुख धर्म कितने हैं? उनके स्वरूप बताएँ जो मनुष्य के लिए मंगलकारी हैं॥ ५८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

मनीषिणोऽधुनालोके भाषा बह्व्यः समुद्गताः।
असंख्याः संप्रदायाश्च प्रादुर्भूताः पदे पदे॥ ५९ ॥
विभिन्नानां मतानां च बाहुल्यं विद्यतेऽधुना।
संख्या येषां समुल्लंघ्य सहस्रमति वर्द्धते॥ ६० ॥
अधुनोद्यन्ति ते नित्यमुद्भिजा इव वार्षिकाः।
देवीनामथ देवानां संख्याऽप्येवं विवर्द्धते ॥ ६१ ॥

गणना संभवा तेषां नैव नावश्यकं तथा।
संक्षेपादद्य चत्वारः संप्रदायास्तु धर्मजाः ॥ ६२ ॥
अन्ये शाखा प्रशाखाश्च तेषामेवेति मन्यताम्।
एषु भारतमूलौ द्वौ मानवोत्कर्षसाधकौ ॥ ६३ ॥
हिंदूधर्म इति ख्यात एकस्तत्राऽपरस्तु सः।
प्रसिद्धो विश्वमात्रे च बौद्धधर्माभिधानकः ॥ ६४ ॥
पाश्चात्यमूलौ द्वौ ख्रीष्ट-इस्लामश्च मताविह।
चतुर्ण्णामेव चैतेषां सदस्या विश्वविस्तृताः ॥ ६५ ॥
धर्मस्य संप्रदायानां समेषां मूल आहिता।
सिद्धांतानां समानैव प्रायः सा हि प्रधानता ॥ ६६ ॥
सनातनं धर्मतत्त्वं तेषु सम्यङ् निरूपितम्।
तेषु कुत्रापि नास्त्येव भिन्नता कापि वस्तुतः ॥ ६७ ॥
तात ! सूर्येण चंद्रेण पवनेनर्तुभिस्तथा।
नदीभिश्च सरोभिस्तैः संबंधोऽस्ति नृणां यथा ॥ ६८ ॥
अधिकारोऽपि तेष्वस्ति समानस्तर्हि सा कथम्।
भिन्नता धर्मतत्त्वे स्याद्यत्तु सर्वोपकारम् ॥ ६९ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले—हे मनीषियो! यों इन दिनों संसार भर में भाषाएँ अनेकों उभरी हैं और संप्रदाय भी सर्वत्र अगणित उपज पड़े हैं। मत-मतांतरों की भरमार है और वे सहस्रों की संख्या में पहुँच चुके हैं। अभी वे बरसाती उद्भिजों की तरह आएदिन उगते रहते हैं। देवी-देवताओं की संख्या भी इसी प्रकार बढ़ रही है। उनकी गणना संभव नहीं, न ही आवश्यक है। संक्षेप में इन दिनों चार धर्मसंप्रदाय प्रमुख हैं। अन्यान्यों को उन्हीं की शाखा-प्रशाखा समझना चाहिए। इनमें भारत मूल के दो हैं, जो मानव के आत्मोत्कर्ष में सहायक हैं—

एक हिंदू धर्म, दूसरा बौद्धधर्म। पाश्चात्य मूल के दो हैं—ख्रीष्ट और इसलाम। इन चारों ही धर्मों के व्यक्ति विश्व भर में फैले हुए हैं। सभी धर्मसंप्रदायों के मूल में एक जैसे ही सिद्धांतों की प्रधानता है। उनमें सनातन धर्मतत्त्व का ही निरूपण किया गया है। उनमें कहीं कोई भिन्नता नहीं। हे तात! जब सूर्य, चंद्र, पवन, ऋतु, नदी, सरोवरों से सबका संबंध और अधिकार है तो फिर धर्मतत्त्व में ही भिन्नता क्यों होगी? जो कि सर्वोपकारक सिद्धांत है॥ ५९-६९॥

यदा यदा हि हे तात! वसुधावासिनो नराः।
धर्मस्य शाश्वतं रूपमिमं मत्वा दधुः स्वयम्॥ ७०॥
तदाऽभूच्च पृथिव्यां सा कृतवातावृतिः शुभा।
अनास्थोदेति धर्मस्य विकृता मान्यताग्रहैः॥ ७१॥
विवेकशीलतादूरदर्शिताया अभावतः।
नियामक्याश्च सत्ताया अनुशासनहेलया॥ ७२॥
धर्मस्य धारणयास्तु फलितार्थो महत्त्वगः।
मानवे देवतात्वस्य धरण्यां स्वर्गसुस्पृशाम्॥ ७३॥
स्थितीनामवतारे च द्रष्टुं शक्योऽञ्जसा नरैः।
विकटास्वद्य जातासु परिस्थितिषु हे मुने॥ ७४॥
धर्मस्य सार्वभौमं तद्यथार्थं च चिरंतनम्।
रूपं स्थापयितुं नूनमिदमावश्यकं मतम्॥ ७५॥
धर्मे वृद्धिंगते तस्य समीपे संस्थिता बलात्।
अयोग्यताऽऽवृतिर्भग्ना स्यादेव स्वयमेव सा॥ ७६॥

टीका—हे तात ! जब-जब इस विश्व-वसुधा पर रहने वाले धर्म के इस शाश्वत स्वरूप को मानकर उसे धारण करते रहे हैं, इस

पृथ्वी पर सतयुगी वातावरण रहा है। अनास्था तो धर्म के विकृत स्वरूप, मान्यताओं के प्रति दुराग्रह, दूरदर्शी विवेकशीलता का अभाव एवं नियामक सत्ता के अनुशासन की अवज्ञा से ही पनपती है। धर्मधारणा का महत्त्वपूर्ण फ़लितार्थ मानव में देवत्व एवं धरती पर स्वर्ग जैसी परिस्थितियों के अवतरण के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आज की विकट परिस्थितियों में धर्म के इस यथार्थ, चिरंतर एवं सार्वभौम रूप को प्रतिष्ठित करने की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है। धर्म बढ़ेगा तो उसके इर्द-गिर्द लिपटा अनुपयुक्त ताओं का आवरण टूटेगा ही॥ ७०-७६ ॥

धर्मो ब्रह्मण उक्तं वै स्वरूपं सक्रियं बुधैः।
धर्मज्ञो यः स एवोक्तो ब्रह्मज्ञो वेदपारगैः॥ ७७॥
ऋषयस्तु महात्मानो धर्ममर्माधिगत्य ते।
धर्मानुचरणादापुर्ब्राह्मं पदमिहैव ते ॥ ७८॥
जीवन्मुक्तस्थितावेते स्वयंतरितुमाप्नुवन्।
अन्यास्तारयितुं शक्तिं धर्मस्याचरणादिह॥ ७९॥
एतादृशा यतेयुश्चेदृष्यात्मानोऽधुनाऽपि तु।
एकां संस्कृतिमत्रैकधर्मं स्थापयितुं पुनः ॥ ८०॥
भवितैवाऽचिरान्नूनं युगस्य परिवर्तनम्।
संपूर्णां वसुधामेककुटुंबे प्रेमपूरिते ॥ ८१॥

टीका—धर्म को ब्रह्म का सक्रिय स्वरूप कहा गया है। जो धर्मविद् है, वही ब्रह्मविद् है—ऐसा वेदवेत्ताओं का मत है। सभी ऋषिगणों, महामानवों ने धर्म के मर्म को धारण कर, उस पर आचरण करके इस जीवन में ही ब्राह्मी पद प्राप्त किया है। जीवन्मुक्त स्थिति में वे स्वयं तरने एवं दूसरों को तारने की सामर्थ्य धर्माचरण से ही प्राप्त

कर सके हैं। ऐसी ही ऋषि आत्माएँ एक संस्कृति एवं एक ही धर्म की स्थापना हेतु पुनः प्रयासरत हों, तो युग परिवर्तन अवश्यमेव होकर रहेगा॥ ७७-८१ ॥

ग्रथितुं तात ! धर्मं च सार्वभौमं तु वर्गशः।
विभक्तेभ्यः प्रदातुं त ऋष्यात्मानोऽभवन्निह॥ ८२ ॥
धरण्यां सक्रियाः शांताश्चिन्तनैकरतास्तु ये।
भवन्तः संतु चाश्वस्ता देवसंस्कृतिपक्षगाः ॥ ८३ ॥
नवसर्गस्य स्वप्नं तं साकारं कर्तुमुद्यताः।
स्रष्टुरेवेच्छया तस्यां यतते दिशि प्रत्यहम् ॥ ८४ ॥
सन्देशोऽयं तु सर्वेभ्यो दत्त्वा कार्याश्च ते पुनः।
अभावाज्ञानसंग्रस्ताः संतोषामृततृप्तिगाः ॥ ८५ ॥

टीका—हे तात ! सारी वसुधा को एक परिवार के रूप में गूँथने एवं सार्वभौम धर्म की विभिन्न संप्रदायों, समुदाय, वर्गों को जानकारी कराने हेतु शांत एवं निरंतर चिंतन में संलग्न ऋषि आत्माएँ धरती पर सक्रिय हो चुकी हैं। आप सब आश्वस्त हों कि देव संस्कृति के पक्षधर नवसृजन का स्वप्न साकार करने हेतु स्रष्टा की इच्छानुसार वे उस दिशा में प्रतिदिन प्रयत्नशील हैं। आप सब यह संदेश जन-जन तक पहुँचाकर अभाव-अज्ञान से ग्रसित जनसमुदाय को संतोषरूपी अमृत से तृप्त कराएँ॥ ८२-८५ ॥

जिज्ञासा शांतिरेतैः सा चोपयोगतया मता।
व्यवहारयुता चापि तत्त्वंज्ञानयुतं समे॥ ८६ ॥
समागमेन सर्वेऽद्य जना रोमाञ्चिता भृशम्।
व्यवहारानुकूलस्य तस्यैवाध्यात्मनः समे॥ ८७ ॥

व्याख्याया अनुरुपं तु धर्मस्येदं सनातनम्।
रूपं पुष्टप्रमाणं तु व्याख्यातं हृदयंगमम्॥ ८८॥
विधायज्ञानसत्रे च निजायास्तु उपस्थितेः।
कारणात् सार्थकं सर्वं जीवनं मेनिरे समे॥ ८९॥
संध्यावन्दनकालः स समुपस्थित इत्यतः।
सत्राध्यक्षं प्रणम्येमे सस्नेहं प्रतिनिर्वृताः॥ ९०॥

टीका—जिज्ञासा के निराकरण को सभी ने बहुत उपयुक्त एवं व्यावहारिक माना। आज के समागम से सभी रोमांचित थे। व्यवहारिक अध्यात्मवाद की व्याख्या के अंतर्गत धर्म के सनातन रूप की सप्रमाण विवेचना को हृदयगंम कर सभी ज्ञानसत्र में अपनी उपस्थिति से जीवन सार्थक मानने लगे। संध्यावंदन का समय हो चुका था। अतः सभी सत्राध्यक्ष को अभिवादन कर परस्पर स्नेहभाव से मिलते हुए विदा हुए॥ ८६-९०॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते 'सर्वधर्म समभाव' इति प्रकरणो नाम

॥ षष्ठोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः॥

उपासना-साधना-आराधना प्रकरण

यथाक्रमं समारब्धं ज्ञानसत्रं समागताः।
जिज्ञासवो यथाकालमुपविष्टाः सुशासनाः॥ १॥
सत्राध्यक्षो याज्ञवल्क्य आगताँस्तु मनीषिणः।
विज्ञाः पप्रच्छ सत्रस्य समाप्तिः साद्य विद्यते॥ २॥
शंकाः शेषास्तु याः संति निःसंकोचं ब्रुवन्तु ताः।
प्रसंगानां समाधाने संशयोच्छेद इष्यते ॥ ३॥

अन्त्यनिष्कर्षतां याति चित्तं विश्वासपूर्वकम्।
ईदृश्यां चित्तवृतौ हि दृढः शक्य उपक्रमः॥ ४॥
निर्णयं व्यवहारे च नेतुं शक्यं क्रियात्मताम्।
अस्तु तत्पृच्छ्यतां यद् वः पृच्छ्यं प्रकटितुं भवेत्॥ ५॥

टीका—यथाक्रम ज्ञानसत्र प्रारंभ हुआ। जिज्ञासुगण नियत समय पर पधारे और अनुशासन पूर्वक अपने-अपने स्थानों पर बैठे। सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी ने उपस्थित मनीषियों से पूछा—हे विज्ञजनो! आज सत्रावसान है। जो शंका-आशंकाएँ शेष रही हों, उन्हें निस्संकोच प्रकट करना चाहिए। प्रसंगों का सही समाधान होने पर ही संशयों का निराकरण होता है और चित्त विश्वासपूर्वक अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचता है। ऐसी मनःस्थिति में ही कुछ ठोस कदम उठाना, निर्णय को व्यवहार में उतारना संभव होता है। अस्तु, जो पूछना हो, उसे प्रकट करना चाहिए॥ १-५॥

जिज्ञासूनामग्रणीः स उदगाद् गालवो मुनिः।
सहचारिमनस्थाश्च जिज्ञासा आह प्रस्तुवन्॥ ६॥

गालव उवाच—

ऋतंभरा तु या प्रज्ञा तस्या गौरवमुच्चगम्।
आत्मविद्यापथः पांथा जानन्त्यनुभुवंति च॥ ७॥
प्रेरणास्तस्य नैवैते व्यवहर्त्तुं स्वजीवने।
अर्हन्त्यतोऽनुमानं यत्तत्त्वज्ञानस्य हे मुने॥ ८॥
अभ्यासक्रम एतेषां विदितो न स तत्ततः।
विघ्नापत्त्या न तज्ज्ञानं कर्मत्वमधिगच्छति॥ ९॥
हेतुं तं ज्ञातुमिच्छामो वयं सर्वेऽवरोधकम्।
मार्गं दर्शय तं येन महाप्रज्ञा तु या मता॥ १०॥

तस्या जीवनचर्यायामवधारण-संभवः ।
भवेच्छ्रुत्वा प्रसन्नोऽभूत्सत्राध्यक्ष उवाच च ॥ ११ ॥

टीका—जिज्ञासुओ में अग्रणी गालव मुनि उठकर खड़े हुए और साथियों में से अधिकांश के मन में उठने वाली जिज्ञासुओं का सार संक्षेप प्रस्तुत करते हुए बोले—हे देव ! ऋतंभरा प्रज्ञा की सर्वोच्च गरिमा को हमारी ही तरह अन्य अनेक आत्मविद्या के पथिक जानते और अनुभव करते हैं, फिर भी उसकी प्रेरणाओं को जीवन में उतारते नहीं बन पड़ता। लगता है उस तत्त्वज्ञान का अभ्यासक्रम विदित न होने से ही ऐसी अड़चन आती है कि ज्ञान की कर्म में परिणति हो नहीं पाती। इस अवरोध के कारण को हम सब जानना चाहते हैं, साथ ही उस मार्गदर्शन के भी इच्छुक हैं; जिससे महाप्रज्ञा का जीवन में अवधारण संभव हो सके। सत्राध्यक्ष इस जिज्ञासा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले— ॥ ६-११ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

ज्ञानं परिणमेच्चेत्तत्कर्मणीति मनीषिणः ।
तस्य सार्थकता प्रोक्ता जगत्स्वर्गकरं च तत् ॥ १२ ॥
ब्रह्मविद्या रहो ज्ञानमत्यंतः पौष्टिको मतः ।
आध्यात्मिकः स आहारस्तपस्विश्रम पाचकः ॥ १३ ॥
विदितं यच्च विश्वस्तं तत्र गन्तुं मनस्विनः ।
ससाहसं यतन्तेऽन्ते सफलाश्च भवंति ते ॥ १४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, ज्ञान को कर्म में परिणत करने में ही उसकी सार्थकता है और इससे संसार स्वर्ग बन सकता है। ब्रह्मविद्या का तत्त्वज्ञान अत्यंत पौष्टिक आध्यात्मिक आहार है, उसे पचाने के लिए तपस्वियों जैसी साधना करनी पड़ती है। जो जाना गया है, जिस

पर विश्वास किया गया है, मनस्वी उस पर चलने का भी साहसपूर्वक प्रयत्न करते हैं और इसमें सफल होते हैं॥ १२-१४॥

जिज्ञासवोऽस्ति ब्रह्मांडमोतं प्रोतं त्रिभिस्त्विदम्।
जीवेश्वरप्रकृत्याख्यैस्तत्त्वैरिति मता स्थितिः ॥१५॥
शक्तयस्तिस्र ईशस्य ब्रह्मा विष्णुस्तथा च सः।
रुद्रः सृष्टेः स्थितेः कर्त्र्यः परिवर्तनकस्य च॥१६॥
त्रिभिश्चावरणैर्मर्त्य आवृतो ज्ञायतां त्विदम्।
स्थूलेन चापि सूक्ष्मेण कारणेन च निश्चितम्॥१७॥
लक्ष्यत्रयं च लब्धव्यं सच्चिदानंदसंज्ञकम्।
तथ्यत्रयं च दृष्टव्यं सत्यं तत्सुन्दरं शिवम् ॥१८॥
त्रयो लोकास्तथा तिस्रो गतयः सा मनःस्थितिः।
त्रिधा परिस्थितिश्चापि त्रिधैव च मनीषिता॥१९॥
गुणकर्मस्वभावाश्च त्रिप्रकारा त्रिधा च या।
इयं विधि व्यवस्थैव त्रिपदा कथ्यते बुधैः॥२०॥
इयमेवाद्यशक्तिः सा गायत्री तिस्र आदृताः।
धारा यस्या बुधैर्निष्ठा प्रज्ञाश्रद्धाभिधानतः॥२१॥
इमा ये त्वधिगच्छंति तेषां हस्तगतं स्वयम्।
उपलब्धित्रयं तृप्तिः तुष्टिः शांतिः सदामृतम्॥२२॥
सद्गतिश्चेयमेवास्ति स्वर्गसंवेदना तथा।
जीवन्मुक्तिश्च सर्वस्वं जीवनस्य समीहितम्॥२३॥
विज्ञास्त्रिधा ब्रह्मविद्या समग्रे जीवने व्रजेत्।
व्यवहारांगतां व्यक्तित्वांगतां लाभ उत्तमः॥२४॥

टीका—हे जिज्ञासुओ ! यह विश्वब्रह्मांड ईश्वर, जीव, प्रकृति के तीन तत्त्वों से ओत-प्रोत है। परमात्मा की तीन शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के रूप में सृजन, परिपोषण और परिवर्तन की व्यवस्था बनाती हैं। मनुष्य के तीन आवरण हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। उपलब्ध करने योग्य तीन लक्ष्य हैं—सत्-चित्-आनंद। इस सृष्टि में दर्शनीय तीन तथ्य हैं—सत्यं, शिवम्, सुंदरम्। लोक तीन हैं—गति भी तीन और मनःस्थिति-परिस्थिति भी तीन-तीन प्रकार की ही हैं। तीन प्रकार के ही गुण-कर्म-स्वभाव पाए जाते हैं। इस त्रिधा विधि-व्यवस्था को त्रिपदा कहते हैं। यही आद्यशक्ति गायत्री है। इसकी तीन धाराएँ हैं—निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा। इन्हें अपनाने वाले तीन उपलब्धियाँ हस्तगत करते हैं—तृप्ति, तुष्टि और शांति जो अमृतस्वरूप हैं। सद्गति, स्वर्ग-संवेदना और जीवन्मुक्ति भी यही हैं, जो जीवन के सर्वस्व माने जाते हैं। हे विज्ञजनो ! इस त्रिधा ब्रह्मविद्या को समग्र जीवन में उतारने, व्यक्तित्व का अंग बनाने से ही समुचित लाभ की प्राप्ति होती है॥ १५-२४॥

पुरुषार्थत्रयं कार्यं ब्रह्मोपासनमप्यहो ।
साधना जीवनस्यास्मै लोकाराधनमुत्तमम्॥ २५॥
एकदा त्रीणि ग्राह्याणि तदन्नपानीयवायुजाः।
आकांक्षा यदि पूर्णाः स्युर्जीवनं निर्वहेद् यथा॥ २६॥
ब्रह्मोपासनमासाद्यं सामीप्यश्रमतः सदा।
अग्नीन्धनमिवैतच्च शलभोज्ज्वलदीपवत् ॥ २७॥
पयः पानीयवद् बिंदुसिंधुवच्चैकतां गतः।
द्वैतं त्यक्त्वान्ततोऽद्वैतं गृह्णात्यत्र नरः क्रमात्॥ २८॥
शरणागतिरेषैव समर्पण-विसर्जने ।
कथिते, सौरभं यान्ति चंदनात्ते तृणादयः ॥ २९॥

स्वातिबिंदून्निगीर्येयं शुक्तिरुद्गिरतिस्वतः।
मौक्तिकानिमहामूल्यान्युज्ज्वलानि बृहन्त्यपि॥ ३०॥
वल्लरी वृक्षमाश्रित्य वृक्षस्योच्छ्रयतां व्रजेत्।
दंपतिस्तरतां गच्छेदुभयोः स्तर एष तु॥ ३१॥
उपासनमतो व्यक्तमात्मिक्याः प्रगतेर्मखम्।
आधारभूतमत्यर्थमवलंबनमत्र तु ॥ ३२॥
सामीप्याद् ब्रह्मणो नूनमात्मनीह परात्मनः।
जायते महतः सेयं क्षुद्रे परिणतिः शुभा॥ ३३॥
लौहपारदयोर्योगात्स्वर्णोत्पत्तिरिव स्थितिः।
सामीप्यस्याथ सारूप्यस्य सालोक्यस्य श्रेयसः॥ ३४॥
सायुज्यस्येयमेवास्ति परिणामो बुधैर्मतः।
लक्ष्यमेतज्जीवनस्योपासना लभ्यतां गतम्॥ ३५॥

टीका—हे विज्ञजनो ! इसके तीन-तीन पुरुषार्थ करने होते हैं। प्रथम ब्रह्म उपासना, द्वितीय जीवन-साधना, तृतीय लोक आराधना। तीनों को साथ उसी प्रकार अपनाना पड़ता है, जैसे अन्न, जल और वायु की तीन आवश्यकताएँ पूर्ण करने पर जीवन-निर्वाह संभव होता है। परब्रह्म की उपासना उसकी अधिकाधिक समीपता का प्रयत्न करने से बन पड़ती है। आग, ईंधन की तरह, बिंदु सिंधु की तरह निकट आया और अंततः द्वैत का परित्याग कर एकत्व अद्वैत अपनाया जाता है। समर्पण, विसर्जन और शरणागति यही है। चंदनवृक्ष के निकट उगे झाड़-झंखाड़ सुगंधित हो जाते हैं। स्वाति बूँदों को उदरस्थ करने पर सीप मूल्यवान उज्ज्वल बड़े-बड़े मोती उगलती है। वृक्ष से लिपटकर बेल उतनी ही ऊँची उठ जाती है। पति-पत्नी की तरह दोनों का स्तर एक हो जाता है। इसलिए उपासना को आत्मिक प्रगति

का प्रथम और आधारभूत आवश्यक अवलंबन माना गया है। ब्रह्म की समीपता से आत्मा में परमात्मा की क्षुद्र में महान की शुभ परिणति होती है। पारस और लोहे की समीपता से स्वर्ण बनने जैसी स्थिति उपासना करने वाले की बनती है। सामीप्य, सारुप्य, सालोक्य, सायुज्यमुक्ति की चरम परिणिति यही है। जीवनलक्ष्य यही है, जो उपासना अपनाने से प्राप्त होता है॥ २५-३५॥

बहून्युपासनायास्तु विधानानि महीतले।
क्रियाभिर्दैनिकैः कृत्यैरत्र साहाय्यमाप्यते ॥ ३६ ॥
जपध्यानार्चनायोगलयादीननुगच्छति ।
सामीप्यस्यैकतायाश्चाभ्यास इत्यस्ति संस्थितिः ॥ ३७ ॥
एभिः कृत्यैर्यथा यस्य भावसंवेदना घना।
भवेत्सत्वनुपातेन स्वेनाभीष्टं समाश्रयेत्॥ ३८ ॥
पूजाचिह्नार्चनैर्भावरहितैराह्निकं भवेत्।
प्रभोः सा सन्निधिश्चैक्यं भक्तौ भक्तैरपेक्ष्यते॥ ३९ ॥

टीका—हे मुनिवर ! उपासना के अनेकानेक विधि-विधान हैं। दैनिक क्रिया-कृत्यों से इसमें सहायता मिलती है। जप, ध्यान, पूजा, अर्चा, लय, योग इत्यादि के अनेकानेक उपचारों के पीछे समीपता और एकात्मकता का अभ्यास किया जाता है। इन कृत्यों के साथ जितनी गहरी भाव-संवेदना होगी, वे उसी अनुपात से अभीष्ट को प्राप्त कराने में समर्थ होंगे। भावरहित पूजा-कृत्यों की चिह्नपूजा से तो मात्र नित्य-नियम ही किसी प्रकार सधता है। समग्र उपासना में भक्त को भगवान की समीपता और एकता का अनुभव अभ्यास करना पड़ता है॥ ३६-३९॥

द्वितीयः पाद उक्तश्च साधना जीवनस्य सा।
असंख्ययोनिषु भ्रांतः कुसंस्कारयुतो नरः॥ ४०॥

पृथक् कार्या इमे यत्नाद् भूमेर्धातव उद्गताः।
भवंति मलिना बह्व्यस्तेषां शुद्धिरपेक्ष्यते ॥ ४१ ॥
प्राकृतं जीवनं तुल्यं पशुभिस्तदसंस्कृतम् ।
कदाचिच्च पिशाचानामिवोदेति च भावना॥ ४२ ॥
असंस्कृतं स्तरं व्यक्तुमाधातुं संस्कृतं तथा।
प्रयत्ना ये क्रियंते ते साधना शब्दगोचराः॥ ४३ ॥
सर्पाः सिंहाश्चभल्लूका वानराश्चाप्यसंस्कृताः।
साधनाभिर्नराणां ते भवन्त्येवोपयोगिनः ॥ ४४ ॥
स्वयं श्रेयोऽधिगच्छंति संपन्नं पालकं तथा।
कुर्वन्त्यपि धरामर्त्यैर्दन्तुरादौ समोर्वरा ॥ ४५ ॥
शोभनापि कृता चैष प्रयासः पारिवारके।
परिष्कारेऽपि कर्त्तव्यस्ततो जन्मफलं भवेत्॥ ४६ ॥

टीका—दूसरा चरण है—जीवन-साधना। असंख्या योनियों में परिभ्रमण करते-करते जीव मनुष्य योनि में पहुँचने पर कुसंस्कारों से लदा रहता है। इन्हें प्रयत्नपूर्वक पृथक करना पड़ता है। भूमि से धातुएँ कच्चे रूप में ही निकलती हैं, अग्नि संस्कार से उन्हें शुद्ध किया जाता है। प्राकृत जीवन पशुतुल्य अनगढ़ होता है। उसमें कभी-कभी पिशाचों जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ उभरती रहती हैं। इस अनगढ़ स्तर को निरस्त करने और उनके स्थान पर सुसंस्कारों को जगाने के लिए जो प्रयत्न-पुरुषार्थ करने पड़ते हैं, उन्हें साधना कहते हैं। साधने पर सर्प, सिंह, रीछ, वानर जैसे अनगढ़ प्राणी उपयोगी बनते हैं स्वयं श्रेय पाते और पालने वाले को सुसंपन्न बनाते हैं। यह धरातल आरंभ में ऊबड़-खाबड़ था। मनुष्य ने ही उसे समतल, सुंदर, ऊर्वर बनाया। यही प्रयास जीवन परिष्कार के लिए भी करना पड़ता है॥ ४०-४६ ॥

अंतरेवोद्गता याश्च बाह्या वा दुष्प्रवृत्तयः।
ताभ्यः सतर्कः स्यात्तासां निरासो जीवसाधना॥ ४७॥
विभक्ता दिनचर्या च निर्धार्या चास्य हेतवे।
क्षणे क्षणे प्रकर्त्तव्य औचित्यग्रहणाग्रहः॥ ४८॥
साधारण्ययुतं ग्राह्यं जीवनं श्रेष्ठचिंतनम्।
कर्त्तव्यं, वासनाऽहंत्वतृष्णाभी रक्षितो भवेत्॥ ४९॥
लोभव्यामोहपाशाश्च खंडनीयाः स्वयं सदा।
सत्प्रयोजनसंलग्नैः साधनैर्भाव्यमत्र च॥ ५०॥
साधना जीवनस्यास्ति या स्वरूपमिदं मतम्।
तस्या मलिनताऽऽवर्ते गते सत्यं विभाति नः॥ ५१॥

टीका—भीतर से उभरने वाली और बाहर से घुस पड़ने वाली दुष्प्रवृत्तियों से सतर्क रहना और उन्हें निरस्त करते रहना जीवन-साधना है। इसके लिए संतुलित दिनचर्या निर्धारित करनी होती है। औचित्य को ही अपनाने का आग्रह हर घड़ी जीवंत रखना पड़ता है। सादगी से भरे जीवन व उत्कृष्ट चिंतन की रीति-नीति अपनानी होती है। वासना, तृष्णा, अहंता के आक्रमणों से अपनी ढाल सदा सही रखनी पड़ती है। लालच और व्यामोह की हथकड़ी-बेड़ी अपने आप ही काटनी होती है। निरंतर सत्प्रयोजनों में निरत रहने की रीति-नीति अपनाए रहने में साधक को तत्पर रहना पड़ता है। जीवन-साधना का यही स्वरूप है। मलिनताओं का आवरण हटने पर सत्य का दर्शन होता एवं अनुग्रह मिलता है॥ ४७-५१॥

शक्तिः साधनया शक्त्या सिद्धिः सिद्धांत एष हि।
साधनास्ति तपश्चर्या तत्र युद्ध्येत् कल्मषैः॥ ५२॥

मूलैरावरणैर्भूयो विक्षेपैर्हठपूर्वकम् ।
प्रकृतेः संस्कृतावंतर्विग्रहो जायते महान्॥५३॥
धैर्येण साहसेनाथ तैः संघर्षे मनोजयः।
जायते प्रोच्यते यश्च बुधैरात्मजयो महान्॥५४॥
आत्मानं योजयेत्तस्य जयदुंदुभिरुद्ध्वनिः ।
दशदिक्षु भवेद् विश्वविजयी स त्विहोच्यते॥५५॥
जीवनाराधनैरेव सामान्या अपि मानवाः।
महामानवतां यान्ति देवर्षिष्ववतारिषु॥५६॥
जीवनं कल्पवृक्षोऽस्ति आत्मा देवो महत्तमः।
तस्य चाराधकाः सद्यो विभूतीर्यान्ति चाढ्यताम्॥५७॥
येनेश्वरप्रदत्तस्य न्यासस्यानुपमस्य तु।
अपव्ययः कृतो न्यस्तः कुमार्गे चात्महा मतः॥५८॥

टीका—साधना से शक्ति और शक्ति से सिद्धि मिलने का सिद्धांत सर्वविदित है। साधना ही तपश्चर्या है, उसमें कषाय-कल्मषों से, मल-आवरण-विक्षेपों से हठपूर्वक जूझना पड़ता है। आदतें सुधारने में आंतरिक विग्रह खड़ा होता है। उनसे धैर्य और साहस के साथ जूझने पर ही मनोविग्रह सधता है—यही आत्मविजय है। जो अपने आपको जीतता है, उसकी विजय दुंदुभी दशों दिशाओं में बजती है। वह विश्व विजयी कहा जाता है। जीवन-साधना से ही सामान्य स्तर के मनुष्य महामानव, ऋषि, देवता एवं अवतारी बनते हैं। जीवन कल्पवृक्ष है। आत्मदेव सबसे बड़ा देव है। उसकी साधना-तपश्चर्या करने वाले नकद धर्म की तरह विभूतियाँ पाते और संपदाओं के अधिकारी बनते हैं। जिसने इस ईश्वरप्रदत्त अनुपम धरोहर का ऐसे

ही अपव्यय किया और कुमार्ग में लगाया, उसे अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने वाले की तरह अभागा ही कहा जाएगा॥ ५२-५८ ॥

आत्मोत्कर्षस्य हेतोश्च य उपायस्तृतीयकः ।
आश्रीयते स संप्रोक्त आराधना महर्षयः ॥५९॥
आराधनार्थं सेवाया धर्म आश्रीयते तथा।
लोकमंगलसंलग्नैर्भवितव्यं सदा नरैः ॥६०॥
आकांक्षाया दयायाश्च मैत्र्याश्चात्मा न दूष्यते।
सेवायाश्चाप्युदारत्वे गृहीते तृप्तिरुत्तमा॥ ६१ ॥
प्राणी सामाजिको मर्त्यस्तस्य याः सुविधास्तथा।
सुरक्षाः प्रगतिश्चापि समाजसहयोगगाः ॥६२॥
ऋणादस्माद् विमुक्त्यै च लोकमंगलकर्मसु।
दत्तचित्तैः सदा भाव्यं न जिह्वोपस्थसेवने ॥६३॥
आत्मकल्याणहेतोश्च सद्गुणा ये त्वपेक्षिताः।
सेवाधर्मं विना ते तु नोपलभ्या भवंति नः॥ ६४॥

टीका—ऋषियो ! आत्मोत्कर्ष के लिए जिस तीसरे उपाय का अवलंबन करना होता है, उसका नाम 'आराधना' है। आराधना के लिए सेवा धर्म अपनाना होता है और लोक-मंगल में निरत रहना पड़ता है। आत्मा की आकांक्षा दया, करुणा, मैत्री, सेवा की उदारता अपनाने से ही तृप्त होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी सुविधा, सुरक्षा एवं प्रगति के आधार समाज के अनुदानों से ही बनते हैं। इस ऋण से मुक्ति पाने के लिए लोक-मंगल के पुण्य प्रयासों में भी दत्तचित्त होना चाहिए। सारी श्रम-संपदा पेट प्रजनन में ही नहीं लगा देनी चाहिए। आत्मकल्याण के लिए जिन सद्गुणों की आवश्यकता है, उन्हें सेवा धर्म अपनाए बिना उपलब्ध नहीं किया जा सकता॥ ५९-६४ ॥

अनादिकालमारभ्य भक्ता भगवतस्तु ये।
ते सदा निरता दृष्टा लोकमंगलकर्मसु ॥ ६५ ॥
महात्मनां च विप्राणामर्पितं जीवनं सदा।
एतदर्थमभूत्पूर्वं जगत्सन्मंगलं बभौ ॥ ६६ ॥
मनोयोगः प्रभावश्च श्रमः कालो धनं तथा।
सद्वृत्तिवर्धने येन मात्रया च यया तथा ॥ ६७ ॥
यावता साहसेनाथ योजितानि तथैव च।
मात्रया तेन पुण्यस्य फलान्याप्तानि निश्चितम् ॥ ६८ ॥
पुण्यैः सदाऽऽत्मसंतोषो लोकसम्मानमेव च।
दैवानुग्रहप्राप्तिश्च भवत्येव न संशयः ॥ ६९ ॥

टीका—अनादिकाल से भगवद्भक्तों को लोक-मंगल की सेवा-साधना में निरत रहना पड़ता है। साधु-ब्राह्मणों का जीवन इसी प्रयोजन के लिए समर्पित होता रहा है, इसी से वह समय मंगलमय रहा है। श्रम, समय, मनोयोग, धन, प्रभाव को सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में जिनने जिस अनुपात से जितने साहस के साथ नियोजित किया है, उन्हें उतना ही बड़ा पुण्यफल प्राप्त हुआ है। पुण्य से ही आत्मसंतोष, लोक सम्मान और दैवी अनुग्रह की प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६५-६९ ॥

सद्गतेरधिकारित्वे सेवाव्रतपरायणाः ।
अर्हन्ति, परमार्थत्वं यज्ञो मांगलिकः स्मृतः ॥ ७० ॥
वारिदश्च जगत्प्राणो मार्तण्डोऽमृतदीधितिः।
सर्वे सेवारताः सन्ति वहन्त्यः सरितस्तथा ॥ ७१ ॥
निर्झराश्च सरन्त्येवमानन्दाय, फलानि ते।
वृक्षा ददति गृह्णन्ति प्रतिवर्षं फलानि च ॥ ७२ ॥

यज्ञाः परार्थयोज्यास्ते परिणामेन तस्य तु।
याजकः प्राणिनोऽन्ये च कृतकृत्या भवंति हि॥ ७३॥
उत्साहवर्धकं वातावरणं जायतेऽस्ति च।
सेवायाः साधनायाश्च परिणामोऽयमद्भुतः॥ ७४॥

टीका—सद्गति के अधिकारी सेवापरायण ही होते हैं। परमार्थ ही मांगलिक यज्ञ है। मेघ, पवन, सूर्य, चंद्र सभी सेवारत रहते हैं। नदियाँ इसी निमित्त बहती हैं। निर्झर इसी आनंद लाभ के लिए झरते हैं। वृक्ष फल देते हैं और हर साल नए फल पाते हैं। परमार्थ के निमित्त ही यज्ञ किए जाते हैं। यज्ञ के प्रतिफल से याजक ही नहीं, समस्त प्राणी कृतकृत्य बनते हैं और उत्साहवर्द्धक वातावरण बनता है। यह सेवा-साधना का ही प्रतिफल है॥ ७०-७४॥

जीवनं तु सुसंपन्नं स्रष्टुर्विश्वमिदं महत्।
रम्यमुद्यानमत्यर्थं रम्यतां नेतुमाश्रितम्॥ ७५॥
विधिः सदुपयोगस्य जीवनस्यास्य संमतः।
परार्थो, गलितं बीजं सहस्रं फलति स्वयम्॥ ७६॥
रिक्ता न वारिदाः क्वापि पूरितान् वारिधिस्तु तान्।
विदधाति न नद्यश्च शुष्काः क्वापि भवंति ताः॥ ७७॥
हिमालयादिमूलेभ्योऽनुदानं सन्ततं तु ताः।
प्राप्नुवन्ति शरीराङ्गान्यपि पुष्टानिसातत्श्रुतेः॥ ७८॥
श्वासे गते नवं श्वासं गृह्णन्त्येते च प्राणिनः।
उदरे रिक्ततां याते नवाहारस्तु लभ्यते॥ ७९॥
परार्थैकरता ये ते लाभान् गृह्णन्त्यनेकशः।
न्यूनता कृपणैर्मर्त्यैः संकीर्णैः प्राप्यते ध्रुवम्॥ ८०॥

मेषा ददाति चोर्णां ते नव्योर्णां प्राप्नुवन्ति च।
कृपणो भल्लुकः केशान् नो ददात्याददाति नो॥ ८१॥
उदुम्बरगताजीवा इव ते कृपणा मताः।
तोषं मानं च पुण्यं च लभंते मुधमक्षिकाः॥ ८२॥
सत्प्रयोजनसंलग्ना विज्ञाः सन्त्येव सर्वदा।
उदार-साहसस्यैते लभंते फलमुज्ज्वलम्॥ ८३॥

टीका—यह सुसंपन्न जीवन स्रष्टा के विश्व-उद्यान को सुरम्य बनाने के निमित्त ही धरोहर रूप में मिला है। उसके सदुपयोग का एकमात्र उपाय परमार्थ ही है। बीज गलता है तो हजार गुना होकर फलता भी है। बादल खाली नहीं होते, समुद्र उनकी संपदा को भरी-पूरी रखता है। नदियाँ सूखती नहीं, उन्हें हिमालय आदि इनके मूल स्थानों से सदा-सर्वदा अजस्र अनुदान मिलते रहते हैं। शरीर के अवयव एकदूसरे को देते और बदले में समर्थ, परिपुष्ट रहते हैं। साँस छोड़ने पर ही नई साँस लेने का सुयोग मिलता है। पेट खाली करने पर ही नया आहार उदरस्थ करने का सुयोग मिलता है। परमार्थपरायण अनेकानेक लाभ प्राप्त करते हैं। घाटा तो कृपणता-संकीर्णता अपनाने वालों को ही पड़ता है। भेड़ ऊन देती और नई पाती है। कृपण रीछ अपने बाल किसी को देता नहीं तो अधिक देने में प्रकृति भी अपना हाथ सिकोड़ लेती है। कृपण गूलर के भुनगे बनकर रहते हैं, किंतु परमार्थरत रहने वाली मधुमक्खियाँ सम्मान, संतोष और पुण्य का त्रिविध लाभ अर्जित करती हैं। अस्तु, विज्ञजन सदा सत्प्रयोजनों के लिए सेवापरायण रहते हैं और अपनी उस उदार साहसिकता का आनंददायक प्रतिफल प्राप्त करते हैं॥ ७५-८३॥

ईश्वरोपासनस्याथ साधनायाश्च ते समे।
जीवनस्यापि लोकस्य समाराधनकस्य च॥ ८४॥
त्रिविधा उपचारा येऽध्यात्मनस्तु मता बुधैः।
श्रुत्वा तानृषयः सर्वे सत्रस्थास्तोषमाययुः ॥ ८५॥
तैर्ज्ञातश्चार्चनस्यार्थः स्वाध्यायस्यापि शोभनः।
सत्संगस्य, महार्हं तमाहारं पक्तुमेव या ॥ ८६॥
व्यायामः पुरुषार्थस्य विद्यतेऽपरिहार्यता ।
प्रखरतां सुसंपन्नतां तां वापि पवित्रताम् ॥ ८७॥
या ददात्यलमेतासां त्रिवेण्यामवगाहनात्।
संभवत्यापि हे विज्ञाः! पवित्राणां सुश्रद्धया॥ ८८॥
साधनोपासनालोकाराधनानां च सन्ततम्।
प्राप्तुं सफलतां नान्यः पन्थाः कश्चित्तु विद्यतेः॥ ८९॥

टीका—ईश्वर उपासना, जीवन-साधना और लोक आराधना के त्रिविध अध्यात्म उपचारों का विस्तृत विवरण और प्रतिफल जानकर सत्र के सभी जिज्ञासु जन संतुष्ट हुए। उनने जाना कि स्वाध्याय, सत्संग, पूजा-भजन के बहुमूल्य आहार को पचाने के लिए जिस व्यायाम-पुरुषार्थ की अनिवार्य आवश्यकता है—वह पवित्रता, प्रखरता एवं संपन्नता प्रदान करने वाली उपासना, साधना और आराधना की त्रिवेणी का अवगाहन करने से ही संभव हो सकती है। सफलता प्राप्त करने हेतु और कोई मार्ग नहीं॥ ८४-८९॥

अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य साफल्यमथ ते ततः।
असाफल्यं विदित्वा च संतुष्टाः सत्रपूरणे॥ ९०॥

क्रियान्विताँस्तु विश्वासान् कर्तुं निश्चित्य प्रस्तुताः।
स्वस्वावासदिशाः सर्वे नवसृष्टिमहोत्सवाः ॥११॥
आयोजनसुसंयोगं प्रशशंसुरिमे समे ।
पुनस्तथा सुयोगं च प्राप्तुं भावानभाविषु ॥१२॥

टीका—अध्यात्म-क्षेत्र की सफलता-असफलता का रहस्य समझने के उपरांत सत्र की समाप्ति पर संतोष व्यक्त करते हुए विश्वासों को क्रियान्वित करने का संकल्प लेकर सभी जिज्ञासु जन अपने-अपने स्थानों को लौट गए। नवसृजन की कल्पना से सभी उत्साहित थे। सभी ने आयोजन में सम्मिलित होने के सुयोग को सराहा और फिर वैसा अवसर मिलने का मनोभाव प्रकट किया॥ १०-१२ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते 'उपासना-साधना-आराधना' इति प्रकरणो नाम

॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ महाकालाष्टकम् ॥

असम्भवं सम्भव-कर्त्तुमुद्यतं,
प्रचण्ड-झंझावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

यदा धरायामशान्तिः प्रवृद्धा,
तदा च तस्यां शान्तिं प्रवर्धितुम्।
विनिर्मितं शान्तिकुञ्जाख्यतीर्थकं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

अनाद्यनन्तं परमं महीयसं,
विभोः स्वरूपं परिचाययन्मुहुः।
युगानुरूपं च पथं व्यदर्शयत्,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

उपेक्षिता यज्ञमहादिकाः क्रियाः,
विलुप्तप्रायं खलु सान्ध्यमाह्निकम्।
समुद्धृतं येन जगद्धिताय वै,
परं महाकालममुं नमाम्यहम्॥ ४ ॥

तिरस्कृतं विस्मृतमप्युपेक्षितं,
आरोग्यवाहं यजनं प्रचारितुम्।
कलौ कृतं यो रचितुं समुद्यतं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

तपः कृतं येन जगद्धिताय वै,
विभीषिकायाश्च जगन्नु रक्षितुम्।
समुज्ज्वला यस्य भविष्य-घोषणा,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥

मृदुह्युदारं हृदयं नु यस्य यत्,
तथैव तीक्ष्णं गहनं च चिन्तनम्।
ऋषेश्चरित्रं परमं पवित्रकं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ७ ॥

जनेषु देवत्ववृत्तिं प्रवर्धितुं,
नमो धरायाश्च विधातुमक्षयम्।
युगस्य निर्माणकृता च योजना,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥

यः पठेच्चिन्तयेच्चापि, महाकाल-स्वरूपकम्।
लभेत परमां प्रीतिं, महाकालकृपादृशा ॥ ९ ॥

॥ महाकालाष्टक ॥

(हिंदी पद्यानुवाद)

असंभव पराक्रम के हेतु तत्पर,
विध्वंस का जो करता दलन है।
नवयुग सृजन पुण्य संकल्प जिसका,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ १॥

भू पर भरी भ्रांति की आग के बीच,
जो शक्ति के तत्त्व करता चयन है।
विकसित किए शांतिकुंजादि युगतीर्थ,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ २॥

अनादि, अनुपम, अनश्वर, अगोचर,
जिनका सभी भाँति अनुभव कठिन है।
युगशक्ति का बोध सबको कराया,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ३॥

विस्मृत-उपेक्षित पड़ी साधना का,
जिनने किया जागरण-उन्नयन है।
घर-घर प्रतिष्ठित हुई वेदमाता,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ४॥

यज्ञीय विज्ञान, यज्ञीय जीवन,
जो सृष्टि-पोषक दिव्याचरण है।
उसको उबारा प्रतिष्ठित बनाया,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ५॥

मनुष्यता के दुःख दूर करने,
तपकर कमाया परम पुण्य धन है।
उज्ज्वल भविष्यत् की घोषणा की,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ६॥

अनीति भंजक शुभ कोप जिनका,
शुभ ज्ञानयुत श्रेष्ठ चिंतन गहन है।
ऋषि कल्प जीवन जिनका परिष्कृत,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ७॥

देवत्व मानव-मन में जगाकर,
संकल्प भू पर अमरपुर सृजन है।
युग की सृजन योजना के प्रणेता,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ८॥

महाकाल की प्रेरणा, श्रद्धायुत चित लाय,
नर पावे सद्गति परम, त्रिविध ताप मिट जाएँ॥ ९॥

*****

हमारे आर्षग्रंथ

परमपूज्य गुरुदेव ने समय की आवश्यकता को देखकर जिस प्रकार 'गायत्री' एवं 'यज्ञ' को जनसुलभ बनाया। इसके लिए गायत्री महाविज्ञान तथा यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान जैसे ग्रंथ तैयार किए। उसी प्रकार उन्होंने आर्ष वाङ्मय को भी जनसामान्य के लिए समझ सकने योग्य स्वरूप दिया। जनसुलभ भाषा तथा क्रय सुलभ मूल्य उसकी विशेषता रही। इस क्रम में चारों वेद, १०८ उपनिषद्, छह दर्शन, २४ गीता, २० स्मृति, ब्राह्मण, आरण्यक, १८ पुराण, योगवासिष्ठ आदि ग्रंथों का प्रकाशन हुआ।

कालांतर में वंदनीया माताजी ने शांतिकुंज **वेद विभाग** के माध्यम से इन आर्षग्रंथों को पुनः संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण के रूप में प्रकाशित कराया। उनमें वेद ज्ञान संबंधी भ्रांतियों का निवारण, वैज्ञानिक पाद-टिप्पणियों एवं ऋषि, देवता, छंद के परिचयात्मक परिशिष्ट आदि विशेषताओं को जोड़ा गया। वर्तमान समय में उनका विवरण इस प्रकार है—

ऋग्वेद चार भागों में, यजुर्वेद-सामवेद एक-एक भाग में तथा अथर्ववेद दो भागों में (कुल आठ जिल्द में), १०८ उपनिषदें—ज्ञान खंड, साधना खंड एवं ब्रह्मविद्या खंड के रूप में (कुल तीन जिल्द में) एवं छह दर्शन सांख्य एवं योग, न्याय एवं वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत (कुल चार जिल्द में) प्रकाशित हुए हैं। अन्य आर्षग्रंथों के प्रकाशन का क्रम भी सतत चल रहा है।

इन संशोधित-परिवर्द्धित आर्षग्रंथों को शांतिकुंज हरिद्वार, गायत्री तपोभूमि मथुरा तथा अन्य हमारे केंद्रों से प्राप्त किया जा सकता है। ये ग्रंथ लागत मूल्य पर ही उपलब्ध हैं, जिसका विवरण इस प्रकार है—चारों वेद, ८ जिल्द, प्रत्येक का मूल्य १२५रुपये, १०८ उपनिषदें, ३ जिल्द, प्रत्येक १२५ रुपये, सांख्य-योगदर्शन-७०रुपये, न्याय-वैशेषिक दर्शन—१००रुपये, मीमांसा दर्शन—१७५रुपये तथा वेदांत दर्शन—९०रुपये का है। वेद एवं उपनिषद् सैटों में तथा फुटकर दोनों तरह से उपलब्ध हैं।